प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला- 62

डॉ. सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग-1

प्राकृत भाषा का प्राचीन स्वरूप

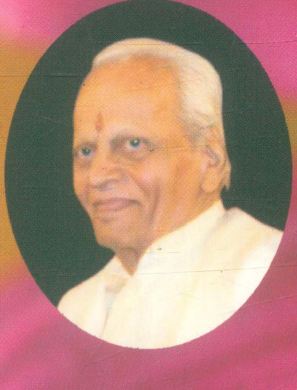

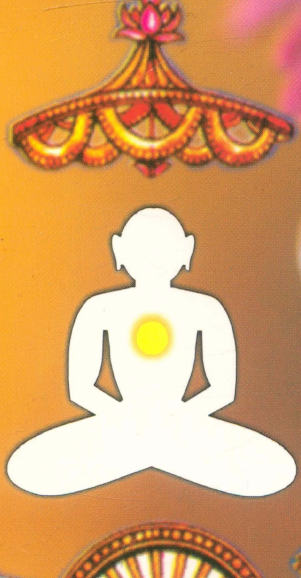

डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक : प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

सादर समर्पण

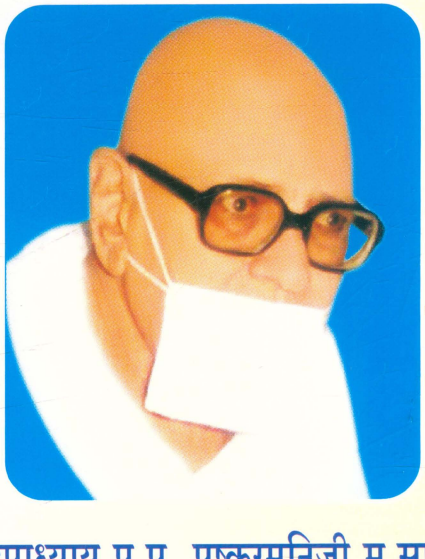

उपाध्याय प.पू. पुष्करमुनिजी म.सा.

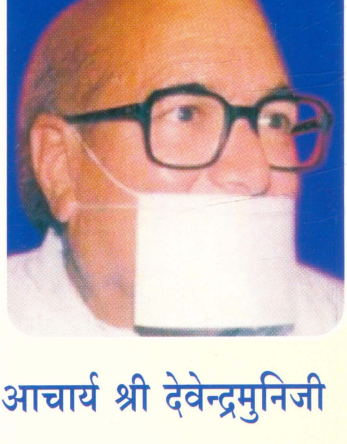

आचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी

महाश्रमणी
पू. श्री पुष्पवतीजी म.सा.

प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला क्रमांक – 62

सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग – 1

प्राकृत भाषा का प्राचीन स्वरूप

लेखक

डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक – प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

■ प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला क्रमांक 62

■ प्राकृत भाषा का प्राचीन स्वरूप

■ सागरमल जैन आलेख संग्रह, भाग 1

■ प्राकृत भाषा के प्राचीन स्वरूप से सम्बन्धित
डॉ. सागरमल जैन के आलेख

■ लेखक :-
डॉ. सागरमल जैन

■ प्रकाशक :-
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)
फोन नं. 07364-222218

■ प्रकाशन वर्ष 2015-16

■ कापीराइट - लेखक डॉ.सागरमल जैन

■ मूल्य - रूपये 200/-

■ सम्पूर्ण सेट (लगभग 25 से अधिक भाग) - 5000/-

■ मुद्रक
छाजेड़ प्रिन्टरी प्रा.लि.
68, इण्डस्ट्रीयल एरिया, रतलाम
फोन 07412-230557

प्रकाशकीय

डॉ.सागरमल जैन 'जैन विद्या एवं भारतीय विद्याओं' के बहुश्रुत विद्वान् हैं। उनके विचार एवं आलेख विगत 50 वर्षों से यत्रतत्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं और संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी के विभिन्न ग्रन्थों की भूमिकाओं के रूप में प्रकाशित होते रहे हैं। उन सबको एकत्रित कर प्रकाशित करने के प्रयास भी अल्प ही हुए हैं। प्रथमतः, उनके लगभग 100 आलेख सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ में और लगभग 120 आलेख- श्रमण के विशेषांकों के रूप में 'सागर जैन विद्या भारती' में अथवा जैन धर्म एवं संस्कृति के नाम से सात भागों में प्रकाशित हुए हैं, किन्तु डॉ.जैन के लेखों की संख्या 320 से अधिक है, साथ ही उन्होंने संस्कृत एवं प्राकृत के तथा जैन धर्म और संस्कृति से संबंधित अनेक ग्रन्थों की विस्तृत भूमिकाएं भी लिखी है। उनका यह समस्त लेखन प्रकीर्ण रूप से बिखरा पड़ा है। विषयानुरूप उसका संकलन भी नहीं हुआ है। उनके ग्रन्थ भी अब पुनः प्रकाशन की अपेक्षा रख रहे हैं, किन्तु छह-सात हजार पृष्ठों की इस विपुल सामग्री को समाहित कर प्रकाशित करना हमारे लिए संभव नहीं था। साध्वीवर्या सौम्यगुणाश्रीजी का सुझाव रहा कि प्रथम क्रम में उनके विकीर्ण आलेखों को ही एक स्थान पर एकत्रित कर प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जाये। उनकी यह प्रेरणा हमारे लिए मार्गदर्शक बनी और हमने डॉ.सागरमल जैन के आलेखों को संगृहीत करने का प्रयत्न किया। कार्य बहुत विशाल है, किन्तु जितना सहज रूप से प्राप्त हो सकेगा-उतना ही प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जाएगा। अनेक प्राचीन पत्र-पत्रिकाएं पहले हाथ से ही कम्पोज होकर प्रिन्ट होती थीं, साथ ही वे विभिन्न आकारों और विविध प्रकार के अक्षरों में मुद्रित होती थीं, उन सबको एक साइज में और एक ही फोण्ट में प्रकाशित करना भी कठिन था। अतः, उनको पुनः प्रकाशित करने हेतु उनका पुनः टंकण एवं प्रूफरीडिंग आवश्यक था। हमारे पुनः टंकण के कार्य एवं प्रूफ संशोधन के कार्य में सहयोग किया छाजेड़ प्रिन्टरी ने। हम उनके एवं मुद्रक छाजेड़ प्रिन्टरी के भी आभारी हैं।

– नरेन्द्र जैन एवं ट्रस्ट मण्डल
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

विषयानुक्रमणिका

क्र.	विवरण	पृष्ठ क्र.
1.	अर्धमागधी प्राकृत भाषा का उद्भव एवं विकास	1
2.	प्राकृत आगम साहित्य के भाषिक स्वरूप में हुआ परिवर्तन	11
3.	अर्धमागधी आगम साहित्य : कुछ सत्य और तथ्य	31
4.	जैन आगमों की मूल भाषा : अर्धमागधी या शौरसेनी ?	41
5.	प्राकृत विद्या में प्रो. टाँटियाजी के नाम से प्रकाशित उनके व्याख्यान के विचारबिन्दुओं की समीक्षा	71
6.	शौरसेनी प्राकृत के संबंध में प्रो. भोलाशंकर व्यास की स्थापनाओं की समीक्षा	84
7.	अशोक के अभिलेखों की भाषा : मागधी या शौरसेनी	94
8.	क्या ब्राह्मी लिपि में 'न' और 'ण' के लिए एक ही आकृति थी ?	104
9.	ओड्मागधी प्राकृतः एक नया शगूफा	115

1 अर्धमागधी प्राकृत भाषा का उद्भव एवं विकास

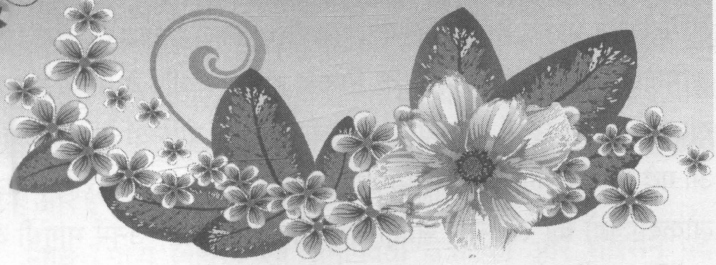

भारतीय साहित्य के प्राचीन ग्रन्थ संस्कृत, प्राकृत एवं पाली भाषा में पाये जाते हैं। वैदिक परम्परा का साहित्य, विशेष रूप से वेद, उपनिषद आदि संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं, किन्तु वेदों की संस्कृत आर्ष संस्कृत है, जिसकी प्राकृत एवं पाली से अधिक निकटता देखी जाती है। मूलतः संस्कृत एक संस्कारित भाषा है। उस युग में प्रचलित विविध बोलियों (डायलेक्ट्स) का संस्कार करके एक सभ्यजनों के पारस्परिक संवाद के लिए एक आदर्श साहित्यिक भाषा की रचना की गई, जो संस्कृत कहलायी। संस्कृत सभ्य वर्ग की भाषा बनी। भिन्न-भिन्न बोलियों को बोलने वाले सभ्य वर्ग के मध्य अपने विचारों के आदान-प्रदान का यही माध्यम थी। इस प्रकार संस्कृत भाषा की संरचना विभिन्न बोलियों के मध्य एक सामान्य आदर्श भाषा (Common Language) के रूप में हुई। उदाहरण के लिए, आज भी उत्तर भारत के हिन्दी भाषी विविध क्षेत्रों में अपनी-अपनी बोलियों का अस्तित्व होते हुए भी उनके मध्य एक सामान्य भाषा के रूप में हिन्दी प्रचलित है। यही स्थिति प्राचीन काल में विभिन्न प्राकृत बोलियों के मध्य संस्कृत भाषा की थी। जैसे आज हिन्दीभाषी क्षेत्र में साहित्यिक हिन्दी और विभिन्न क्षेत्रीय बोलियां साथ-साथ अस्तित्व में हैं, उसी प्रकार उस युग में संस्कृत एवं विभिन्न प्राकृतें साथ-साथ अस्तित्व में रही हैं। यहां सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि मूलतः प्राकृतें बोलियाँ हैं और संस्कृत उनके संस्कार से निर्मित साहित्यिक भाषा है। भारत में बोलियों की अपेक्षा प्राकृतें और संयोजक संस्कारित साहित्यिक भाषा के रूप में संस्कृत प्राचीन है, इसमें किसी का वैमत्य नहीं है। प्राकृतें

संस्कृत को अपभ्रष्ट करके बनीं, यह एक भ्रान्त अवधारणा है।

पुनः कालक्रम में इन क्षेत्रीय बोलियों या प्राकृतों ने भी साहित्यिक भाषा का स्वरूप ग्रहण किया। इसमें सर्वप्रथम अभिलेखीय प्राकृत अस्तित्व में आई। चूंकि अभी तक पठित अभिलेखों में अशोक के अभिलेख ही प्राचीनतम माने जाते हैं–इनकी जो भाषा है वही अभिलेखीय प्राकृत है। इनकी भाषा मुख्यतः मागधी प्राकृत के निकट है, किन्तु अशोक के अभिलेखों की प्राकृत मागधी के निकट होते हुए भी, वे अभिलेख जिन–जिन क्षेत्रों में खुदवाये गए हैं, उनमें वहां–वहां की क्षेत्रीय प्राकृत बोलियों के शब्दरूप भी क्वचित् रूप से आ गये हैं। यह मागधी के अर्धमागधी बनने के इतिहास का प्रारंभिक चरण था। जिन–जिन लोकबोलियों का रूपान्तर साहित्यिक प्राकृत में हुआ, उनमें मागधी का स्थान प्रथम है, क्योंकि उसमें न केवल अशोक के अभिलेख लिखे गए, अपितु वह बौद्ध त्रिपिटकों की पाली और जैन आगमों की अर्धमागधी का आधार भी रही है।

अभिलेखीय प्राकृत में दूसरा स्थान खारवेल के अभिलेख ई.पू. प्रथम शती का और तीसरा स्थान मथुरा के जैन अभिलेखों ई. की 1–3 री शती का आता है। आश्चर्य यह है कि ईस्वी सन् की तीसरी शती तक का कोई भी अभिलेख संस्कृत भाषा में नहीं लिखा गया। मथुरा के कुछ जैन अभिलेखों में क्वचित् संस्कृत शब्दरूप देखे जा सकते हैं, किन्तु कोई भी अभिलेख न तो शुद्ध संस्कृत में है और न मध्यवर्ती 'त' के स्थान पर 'द' को प्रधानता देने वाली शौरसेनी प्राकृत में मिला है। उनमें शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत में प्रचलित 'न' के स्थान पर सर्वत्र 'ण' का अभाव परिलक्षित होता है और न महाराष्ट्री प्राकृत की लोप की 'य' श्रुति ही मिलती है। मुख्य बात यह है कि अशोक के काल में राज्यभाषा के रूप में मागधी प्राकृत को ही प्रधानता मिली थी। अतः उसका प्रभाव ईसा की दूसरी–तीसरी शती तक बना रहा। इतना सुनिश्चित है कि इसी मागधी को संस्कृत के सन्निकट लाने के प्रयत्न में पाली का विकास हुआ, जिसमें बौद्ध त्रिपिटक साहित्य आज भी उपलब्ध है। उसी मागधी के सरलीकरण के प्रयास में आसपास की क्षेत्रीय बोलियों के शब्द–रूपों के मिश्रण से आचारांग और इसीभासियाई जैसे प्राचीन स्तर के अर्धमागधी आगमों की रचना हुई।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अर्धमागधी आगम साहित्य की पाटलीपुत्र में नंदवंश की समाप्ति और मौर्ययुग के प्रथम चरण अर्थात् वीरनिर्वाण के लगभग 150 वर्ष पश्चात् और

खारवेल की कुम्हारी पर्वत (ई.पू.प्रथम शती) की वाचना में उनका अर्धमागधी स्वरूप स्थिर रहा, किन्तु ईसा की तृतीय शती में आर्य स्कंदिल की अध्यक्षता में मथुरा में सम्पन्न वाचना में वहां की क्षेत्रीय भाषा शौरसेनी का प्रभाव उस पर आया और इसे माथुरी वाचना के नाम से जाना गया। ज्ञातव्य है कि यापनीय और दिगम्बर अचेल परम्परा के ग्रन्थों में जो भी आगमिक अंश पाये जाते हैं, वे जैन शौरसेनी के नाम से ही जाने जाते हैं, क्योंकि इनमें एक ओर अर्धमागधी और दूसरी ओर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव देखा जाता है। अचेल परम्परा के आगम तुल्य ग्रन्थों की भाषा विशुद्ध शौरसेनी न होकर अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्रभावित शौरसेनी है और इसीलिए इसे जैन शौरसेनी कहा जाता है।

इस प्रकार, मगध (मध्य बिहार) एवं समीपवर्ती क्षेत्रों की और शौरसेन प्रदेश (वर्त्तमान पश्चिमी उत्तरप्रदेश और हरियाणा) की क्षेत्रीय बोलियों से साहित्यिक प्राकृत भाषा के रूप में क्रमशः अर्धमागधी और शौरसेनी प्राकृत का विकास हुआ। अर्धमागधी जब पश्चिम भारत और सौराष्ट्र पहुँची, वह शौरसेन प्रदेश से होकर ही वहाँ तक पहुँची थी, अतः उसमें क्वचित् शब्दरूप शौरसेनी के आ गये। पुनः, मथुरा की वाचना के समकालिक वलभी में नागार्जुन की अध्यक्षता में जो वाचना हुई उसमें और उसके लगभग 150 वर्ष पश्चात् पुनः वलभी में (वीर निर्वाण संवत् 980) में जो वाचना होकर आगमों का सम्पादन एवं लेखन कार्य हुआ, उस समय उनमें वहां की क्षेत्रीय बोली महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव आया। इस प्रकार, अर्धमागधी आगम साहित्य क्वचित् रूप से शौरसेनी और अधिक रूप में महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हुआ। फिर भी, ऐसा लगता है कि निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णिकाल तक (ईसा की द्वितीय शती से सातवीं शती तक) उसके अर्धमागधी स्वरूप को सुरक्षित रखने का प्रयत्न भी हुआ है। चूर्णिगत 'पाठों' में तथा अचेल परम्परा के मूलाचार, भगवती आराधना तथा उसकी अपराजितसूरि की टीका, कषायपाहुड, षट्खण्डागम आदि उनकी टीकाओं में ये अर्धमागधी रूप आज भी देखे जाते हैं। उदाहरण के रूप में सूत्रकृतांग का वर्त्तमान 'रामगुत्ते' पाठ, जो मूल में रामपुत्ते था, चूर्णि में 'रामाउत्ते' के रूप में सुरक्षित है।

इसी प्रकार, हम देखते हैं कि मागधी कैसे अर्धमागधी बनी और फिर उस पर शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव कैसे आया? इन प्राकृत भाषाओं के कालक्रम की दृष्टि से विचार करें, तो मागधी में आसपास की क्षेत्रीय बोलियों के प्रभाव से साहित्यिक

प्राकृत के रूप में अर्धमागधी का उद्भव एवं विकास हुआ। इसके पश्चात् शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतें भी साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित हुईं। जहाँ तक मागधी या प्रारम्भिक अर्धमागधी का प्रश्न है, उसके साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक (अभिलेखीय) दोनों प्रमाण उपलब्ध हैं, जो ई.पू.तीसरी–चौथी शताब्दी तक जाते हैं, किन्तु जहाँ तक शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत का प्रश्न है, उसके मात्र साहित्यिक प्रमाण ही उपलब्ध हैं, जो अधिकतम ईसा की द्वितीय शती से पाँचवी शती के मध्य के हैं, उसके पूर्ववर्ती नहीं हैं। यद्यपि बोली के रूप में प्राकृतें अनेक रही हैं, उनमें संस्कृत के समान एकरूपता नहीं है, संस्कृत के दो ही रूप मिलते हैं, आर्ष और परवर्ती साहित्यिक संस्कृत, जबकि प्राकृतें अपने बोलीगत विभिन्न रूपों के कारण अनेक प्रकार की हैं। विविध प्राकृतों का एक अच्छा संग्रह हमें मृच्छकटिक नामक नाटक में मिलता है, किन्तु प्रस्तुत आलेख में मैंने उन सबका उल्लेख न करके जैन साहित्य के संदर्भ को ध्यान में रखते हुए अर्द्धमागधी, जैन शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत का ही उल्लेख किया है और साथ ही, कालक्रम में उनके विकासक्रम का भी उल्लेख किया है। यद्यपि कुछ अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर उत्तर–पश्चिमी पाकिस्तान और अफगानिस्तान की पैशाची प्राकृत भी प्राचीन प्राकृत रही है, किन्तु कुछ अभिलेखों और नाटकों में प्रयुक्त उसके कुछ शब्दरूपों के अतिरिक्त उस सम्बन्ध में अधिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं। जहां तक प्राकृत धम्मपद का प्रश्न है, वह उससे प्रभावित अवश्य लगता है, किन्तु वह विशुद्ध पैशाची प्राकृत का ग्रन्थ है, यह नहीं कहा जा सकता है।

सामान्य रूप से प्राकृत भाषा के क्षेत्र की चर्चा करनी हो, तो समस्त योरोपीय क्षेत्र एक समय प्राकृतभाषी क्षेत्र रहा है। आज भी अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, इतालवी आदि वर्त्तमान यूरोपीय भाषाओं तथा प्राचीन ग्रीक, लेटिन आदि में अपने उच्चारणगत शैलीभेद को छोड़कर अनेक शब्द रूप समान पाये जाते हैं। मैंने कुछ अर्धमागधी प्राकृत शब्दरूपों को वर्त्तमान अंग्रेजी में भी खोजा है, जैसे–बोंदी=बॉडी, आउट्टे = आउट, नो = नो, दार=डोअर, भातर = ब्रदर आदि जो दोनों में समान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

प्रो. भयाणी और अन्य अनेक भाषा वैज्ञानिकों ने इण्डो–आर्यन भाषाओं को तीन भागों में बांटा है। Old Indo-Aryan Languages, Middle Indo-Aryan Languages और Lateral Indo-Aryan Languages उनके अनुसार प्राचीन भायूरोपीय भाषाओं में मुख्यतः ऋग्वेद एवं अवेस्ता की भाषाएं आती हैं। मध्यकालीन

भायूरोपीय भाषाओं में विभिन्न प्राकृतें और लेटिन ग्रीक आदि भाषाएं समाहित हैं। भाषा वैज्ञानिकों ने मध्यकालीन इन भाषाओं को पुनः तीन भागों में वर्गीकृत किया है– 1.मध्यकालीन प्राचीन भाषाएं, 2. मध्य मध्यकालीन भाषाएं और 3. परवर्ती मध्यकालीन भाषाएं। इनमें प्राचीन मध्यकालीन भाषाओं में अशोक एवं खारवेल के अभिलेख की भाषाएं, पाली (परिष्कृत मागधी), अर्धमागधी, गांधारी (प्राचीन वैशाली) एवं मथुरा के प्राचीन अभिलेखों की भाषाएँ। जहाँ तक मध्यकालीन भाषाओं का प्रश्न है, उस वर्ग के अन्तर्गत विभिन्न नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतें यथा मागधी, शौरसेनी, प्राचीन महाराष्ट्री तथा परवर्ती साहित्यिक महाराष्ट्री तथा पैशाची आती हैं। ज्ञातव्य है कि नाटकों की शौरसेनी और महाराष्ट्री की अपेक्षा जैन ग्रन्थों की शौरसेनी एवं महाराष्ट्री परस्पर एकदूसरे से और किसी सीमा तक परवर्ती अर्द्धमागधी से प्रभावित हैं। जब मैं यहाँ परवर्ती अर्धमागधी की बात करता हूँ, तो मेरा तात्पर्य क्वचित् शौरसेनी एवं अधिकांशतः महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित मागधी से है, जो कुछ प्राचीन स्तर के आगम ग्रन्थों, यथा–आचारांग, इसिभासियाई आदि के प्राचीन पाठों को छोड़कर वर्त्तमान में उपलब्ध अधिकांश अर्धमागधी आगमों एवं उनकी प्राकृत व्याख्याओं तथा पउमचरियं आदि में उपलब्ध हैं। यद्यपि अर्धमागधी के कुछ प्राचीन पाठ 11वीं –12वीं शती तक की हस्तप्रतों तथा भाष्य या चूर्णि के मूल पाठों में सुरक्षित है। संस्कृत मिश्रित प्राकृत में रचित चूर्णियों (7वीं शती) की भाषा में भी कुछ प्राचीन अर्धमागधी का रूप सुरक्षित है। प्रो.के.आर.चन्द्रा ने प्राचीन हस्तप्रतों, चूर्णिपाठों तथा अशोक और खारवेल के अभिलेखों के शब्दरूपों के आधार पर आचारांग में प्रथम अध्ययन का प्राचीन अर्धमागधी स्वरूप स्पष्ट किया है। जहां तक मध्यकालीन परवर्ती भारतीय आर्यभाषाओं का प्रश्न है, वे विभिन्न अपभ्रंशों के रूप में उपलब्ध हैं। इसके पश्चात् आधुनिक युग की भाषाएं आती हैं, यथा–हिन्दी, गुजराती, मराठी, पंजाबी, बंगला, मैथिल आदि। इनका जन्म विभिन्न प्राकृतों से विकसित विभिन्न अपभ्रंशों से ही हुआ है।

अब जहां तक प्राचीन अर्धमागधी के स्वरूप का प्रश्न है, उसके अधिकांश शब्दरूप अशोक एवं खारवेल के शिलालेखों तथा पाली त्रिपिटक के समकालिक हैं। डॉ.शोभना शाह ने आचारांगसूत्र की अर्धमागधी के शब्दरूपों की खारवेल के अभिलेख से तुलना की है। उन्होंने बताया है कि मध्यवर्ती 'त' का अस्तित्व आचारांग में 99.5 प्रतिशत है और खारवेल के अभिलेख में 100 प्रतिशत है। मध्यवर्ती 'त' का 'य' (महाराष्ट्री प्राकृत का

लक्षण) आचारांग में मात्र 0.5 प्रतिशत है। खारवेल के अभिलेख में उसका प्रायः अभाव है। मध्यवर्ती 'त' का 'द', जो कि शौरसेनी प्राकृत का मुख्य लक्षण है–उसका आचारांग और खारवेल के अभिलेख में प्रायः अभाव है, जबकि कुन्दकुन्द के प्रवचनसार जैसे ग्रन्थ में वह 95 प्रतिशत है। मध्यवर्ती 'ध' का 'ध' रूप आचारांग और खारवेल के अभिलेख में प्रायः शत–प्रतिशत है, जबकि प्रवचनसार में मात्र 50 प्रतिशत है। ये और इस प्रकार के भाषिक परिवर्तनों से सिद्ध होता है कि अर्धमागधी के प्राचीन शब्दरूप प्रायः अशोक एवं खारवेल के अभिलेखों में मिल जाते हैं, जबकि शौरसेनी प्राकृत और महाराष्ट्री प्राकृत के शब्दरूपों का उनमें अभाव है। अतः यह ई.पू. की अभिलेखीय प्राकृत और अर्धमागधी में अधिक समरूपता है। अर्धमागधी का विकास मागधी और मगध की समीपवर्ती क्षेत्रीय बोलियों के शब्दरूप के मिश्रण से हुआ है। शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतों का विकास भी उन क्षेत्रों की क्षेत्रीय बोलियों से हुआ होगा, इसमें तो सन्देह नहीं है, किन्तु इन्हें साहित्यिक भाषा के रूप में मान्यता लगभग ईसा की 3री या 4थी शती में मिल पायी है, क्योंकि ई.पू.प्रथम शती से ईसा की 2री शती तक के मथुरा से उपलब्ध अभिलेखों में शौरसेनी या महाराष्ट्री के लक्षणों का प्रायः अभाव है, जबकि उन पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। यदि शौरसेनी साहित्यिक प्राकृत के रूप में उस काल में प्रतिष्ठित होती, तो उसके मुख्य लक्षण मध्यवर्ती 'त' का 'द' तथा इसी प्रकार शौरसेनी और महाराष्ट्री– दोनों का विशेष लक्षण 'न' का सर्वत्र 'ण' कहीं तो मिलने थे। अशोक, खारवेल और मथुरा के अभिलेखों में 'न' ही मिलता है, 'ण' नहीं। इससे प्रमाणित होता है कि जैन शौरसेनी प्राकृत अभिलेखीय प्राकृत से परवर्ती मागधी (पाली) और अर्धमागधी के पश्चात् ही अस्तित्व में आई है।

मेरी दृष्टि में क्षेत्रीय बोलियों की दृष्टि से प्राकृतें संस्कृत भाषा से अति प्राचीन हैं, किन्तु साहित्यिक भाषा के रूप में वे उससे परवर्ती हैं। संस्कृत भाषा, चाहे वह आर्षग्रन्थों की भाषा रही हो या परवर्ती साहित्यिक ग्रन्थों की भाषा रही हो, वे व्याकरण के नियमों से बद्ध हैं और उनमें किसी सीमा तक एकरूपता है, जबकि प्राकृतें क्षेत्रीय बोलियों से उद्भूत होने के कारण बहुविध हैं। चाहे संस्कृत व्याकरण को आदर्श या मॉडल मानकर उनके व्याकरणों की संरचना हुई हो, फिर भी बहुविधता को बनाये रखा गया है। अतः, विभिन्न प्राकृतों के शब्दरूपों में आंशिक समरूपता और आंशिक भिन्नता मिलती है। यहां यह ज्ञातव्य है कि साहित्यिक प्राकृत ग्रन्थों की रचना पहले हुई और उनके शब्द–रूपों को

समझाने के लिए व्याकरण ग्रन्थ बाद में बने। कोई भी प्राकृत व्याकरण 5वीं–6ठी शती से पूर्व का नहीं है।

प्राकृतों के व्याकरण प्राकृत ग्रन्थों से परवर्ती काल के ही हैं। दूसरी बात यह है कि प्राकृत के शब्द–रूपों को समझाने के लिए उनमें जो नियम बनाये गए, वे संस्कृत के शब्द–रूपों को आदर्श या मॉडल मानकर ही बनाये गए, अतः प्राकृत व्याकरणों में जो 'प्रकृतिः संस्कृतम् '–इस सूत्र का अर्थ केवल इतना ही है कि इस प्राकृत के शब्द–रूपों को समझाने का आधार संस्कृत है। जो लोग इस सूत्र के आधार पर यह अर्थ लगाते हैं कि संस्कृत से विकृत होकर या उससे प्राकृत का जन्म हुआ, वे भ्रान्ति में हैं। संस्कृत और प्राकृत शब्द ही इस बात के प्रमाण हैं कि कौन पूर्ववर्ती है। प्राकृतें पुराकालीन क्षेत्रीय बोलियाँ हैं और उनका संस्कार करके ही संस्कृत भाषा का विकास, मानव सभ्यता के विकास के साथ हुआ है। वैज्ञानिक दृष्टि से मानव सभ्यता कालक्रम में विकसित हुई है, अतः उसकी भाषा भी विकसित हुई है। ऐसा नहीं है कि आदिम मानव शुद्ध संस्कृत बोलता था और फिर उसके शब्द–रूपों या उच्चारण में विकृति आकर प्राकृतें उत्पन्न हो गईं। अतः, प्राकृत व्याकरणों में जहां भी सामान्य प्राकृत के लिए 'प्रकृति संस्कृतम्' शब्द आया है– वह यही सूचित करता है कि संस्कृत को अथवा अन्य किसी प्राकृत को आदर्श या मॉडल मानकर उस व्याकरण की संरचना की गई है। इसी प्रकार, विभिन्न प्राकृतों के पारस्परिक संबंध समझाने के लिए जब 'शेषंशौरसेनीवत्' आदि सूत्र आते हैं तो उनका तात्पर्य भी मात्र यही है कि उसके विशिष्ट नियम समझाये जा चुके हैं, शेष नियम शौरसेनी आदि किसी भी आदर्श प्राकृत के समान ही हैं। उदाहरण के रूप में, हेमचन्द्र जब मागधी या आर्षप्राकृत के सम्बन्ध में यह कहते हैं कि –'शेष प्राकृतवत्', तो उसका तात्पर्य यह नहीं कि मागधी प्राकृत महाराष्ट्री प्राकृत या सामान्य प्राकृत से विकसित हुई है। क्षेत्रीय बोलियों में चाहे कालक्रम में परिवर्तन आये भी हों और अपनी समीपवर्ती बोलियों से वे प्रभावित हुई हों किन्तु कोई भी किसी से उत्पन्न या विकसित नहीं हुई है। सभी प्राकृतें अपनी क्षेत्रीय बोलियों से विकसित हुई हैं। यद्यपि क्षेत्रीय बोलियों के रूप में प्राकृतों का कालक्रम निश्चित करना कठिन है, किन्तु अभिलेखों एवं ग्रन्थों के आधार पर इन विभिन्न प्राकृतों के कालक्रम के सम्बन्ध में विचार किया जा सकता है–

1. अशोक के अभिलेखों की प्राचीन मागधी उपलब्ध प्राकृतों में सबसे प्राचीन है। उससे

कुछ परवर्ती खारवेल के अभिलेख की भाषा है, जिसमें मागधी के साथ साथ उड़ीसा की तत्कालीन क्षेत्रीय बोली का प्रभाव है। ई.पू.तीसरी शताब्दी से प्रथम शती तक इनका काल है।

2. इन अभिलेखों के लगभग समकालीन या कुछ परवर्ती पाली त्रिपिटक एवं अर्धमागधी के प्राचीन ग्रन्थ आचारांग,इसिभासियाई आदि के पूर्ववर्ती संस्करणों की भाषा है। इसके प्रमाण कुछ प्राचीनतम हस्तप्रतों में आज भी अधिकांशतः सुरक्षित हैं। इनका काल भी प्रायः पूर्ववत् ई.पू. ही है।
3. तीसरे क्रम पर प्रज्ञापना आदि परवर्ती अर्धमागधी आगमों की तथा आगमतुल्य शौरसेनी के ग्रन्थों की एवं मथुरा के प्राचीन अभिलेखों की भाषा है। पैशाची प्राकृत भी इन्हीं की प्रायः समकालिक है। इसके अतिरिक्त, कुछ प्राचीन नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतें भी इसी काल की हैं। इस काल का प्राचीन आदर्श ग्रन्थ 'पउमचरियं' है। इनका काल ईसा की प्रथम शती से पांचवी शती के मध्य माना जाता है। कालक्रम का यह निर्धारण अनुमानित ही है। इसको एक–दो शती आगे–पीछे किया जा सकता है।

मागधी एवं अर्धमागधी क्यों प्राचीन हैं? इसलिए क्योंकि भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश इसी भाषा में दिए थे। इस सम्बन्ध में 'अर्धमागधी आगम' साहित्य से कुछ प्रमाण प्रस्तुत किए जा रहे हैं, यथा–

1. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खई। – समवायांग, समवाय 34, सूत्र 22
2. तए णं समणे भगवं महावीरे कुणिअस्स भंभसारपुत्तस्स अद्धमागहाए भासाए भासिता अरिहा धम्मंपरिकहेई। – औपपातिक सूत्र 1
3. गोयमा! देवा णं अद्धमागहीए भासाए भासंति स वि य णं अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी विसज्जति।–भगवई, लाडनूँ, शतक 5, उद्देशक 4, सूत्र 93
4. तए णं समये भगवं महावीरे उसभदत्तमाहणस्स देवाणंदामाहणीए तीसे य महति महलियाए इसिपरिसाए मुणिपरिसाए जइपरिसाए.... सव्व भाषाणु.... गमिणिय सरस्सईए जोयणणीहारिणासरेणं अद्धमागहाए भासाए भासए धम्मं परिकहेई। – भगवई, लाडनूँ, शतक 9, उद्देशक 33, सूत्र 149
5. तए णं समये भगवं महावीरे जामालिस्स खत्तियकुमारस्य.... अद्धमागहाए भासाए

भासइ धम्मं परिकहेइ। –भगवई, लाडनूँ, शतक 9, उद्देशक 33, सूत्र 163

6. सव्वसत्तसमदरिसीहिं अद्धमागहाए भासाए सुत्तं उवदिट्ठं। –आचारांगचूर्णि, जिनदासमणि, पृ.255

न केवल श्वेताम्बर मान्य अर्धमागधी आगमों में, अपितु दिगम्बर परम्परा के शौरसेनी ग्रन्थों में भी यह उल्लेख मिलते हैं कि भगवान् महावीर के उपदेश की भाषा अर्धमागधी ही थी। आचार्य कुन्दकुन्द की कृति के रूप में मान्य बोधपाहुड की 32वीं गाथा में तीर्थंकरों के अतिशयों की चर्चा है। उसकी टीका में श्री श्रुतसागरजी लिखते हैं कि–'सर्वार्धमागधीया भाषा भवति', अर्थात् उनकी सम्पूर्ण वाणी अर्धमागधी भाषा–रूप होती है। पूज्य जिनेन्द्रवर्णी जिनेन्द्र सिद्धान्तकोष, भाग 2, पृष्ठ 431 पर भगवान् दिव्यध्वनि की चर्चा करते हुए दर्शन प्राभृत एवं चन्द्रप्रभचरित (18/1) के संदर्भ देकर लिखते हैं कि – 'तीर्थंकर की दिव्यध्वनि आधे मगधदेश की भाषारूप और आधी सर्वभाषारूप होती है।' आचार्य प्रभाचन्द्र नन्दीश्वर भक्ति के अर्थ में लिखते हैं कि उस दिव्यध्वनि का विस्तार मागध जाति के देव करते हैं। अतः, अर्धमागधी देवकृत अतिशय है। आचार्यप्रवर श्री विद्यासागरजी के शिष्य श्री प्रमाणसागरजी अपनी पुस्तक जैनधर्म दर्शन (प्रथम संस्करण) पृ.50 पर लिखते हैं कि भगवान् महावीर का उपदेश सर्वग्राह्य अर्धमागधी भाषा में हुआ, आदि। इस प्रकार, जैन परम्परा समग्र रूप से यह स्वीकार करती है कि भगवान् महावीर के उपदेशों की भाषा अर्धमागधी थी। क्योंकि उनका विचरण क्षेत्र प्रमुखतया मगध और उसका समीपवर्ती क्षेत्र था, यही कारण था कि उनकी उपदेश की भाषा आसपास के क्षेत्रीय शब्दरूपों से युक्त मागधी अर्थात् अर्धमागधी थी। वक्ता उसी भाषा में बोलता है, जो उसकी मातृभाषा हो या श्रोता जिस भाषा को जानता हो। अतः भगवान् महावीर के उपदेशों की भाषा अर्धमागधी ही रही होगी।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि अर्धमागधी भाषा का उद्भव ई.पू. पांचवी–छठवीं शती में भगवान् महावीर के उपदेशों की भाषा के रूप में हुआ जो कालान्तर में अर्धमागधी आगम साहित्य की भाषा बन गई। जब हम अर्धमागधी भाषा के विकास की बात करते हैं, तो उस भाषा के स्वरूप में क्रमिक परिवर्तन कैसे हुआ और उसमें निर्मित साहित्य कौन सा है, यह जानना आवश्यक है। मेरी दृष्टि से यह एक निर्विवाद तथ्य है कि व्याकरण के नियमों से पूर्णतः जकड़ी हुई संस्कृत भाषा को छोड़कर कोई भी भाषा दीर्घकाल तक एकरूप नहीं रह

पाई। स्वयं संस्कृत भी दीर्घकाल तक एकरूप नहीं रह पाई। उसके भी आर्ष संस्कृत और परवर्ती साहित्यिक संस्कृत– ऐसे दो रूप मिलते ही हैं। वे सभी भाषाएं जो लोकबोलियों से विकसित होती हैं, सौ–दो सौ वर्षों तक भी एकरूप नहीं रह पाती हैं। वर्त्तमान हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के साहित्यिक रूपों में कैसा परिवर्तन हुआ? यह हम सामान्य रूप से जानते ही हैं। अतः, अर्धमागधी भी चिरकाल तक एकरूप नहीं रह पायी। जैसे–जैसे जैन धर्म का विस्तार उत्तर–पश्चिमी भारत में हुआ, उस पर शौरसेनी एवं महाराष्ट्री के शब्द रूपों का प्रभाव आया तथा उच्चारण में शैलीगत कुछ परिवर्तन भी हुए। अर्धमागधी के साथ सबसे दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य यह रहा कि वह भगवान् महावीर के काल से वलभी की अंतिम वाचनाकाल (वीरनिर्वाण 980 वर्ष/993 वर्ष) अर्थात् एक हजार वर्ष तक मौखिक रूप में ही प्रचलित रही। इसके कारण उसके स्वरूप में अनेक परिवर्तन आए और अन्ततोगत्वा वह शौरसेनी से गुजरकर महाराष्ट्री प्राकृत की गोदी में बैठ गई।

विभिन्न प्राकृतों के सहसम्बन्ध को लेकर विगत कुछ वर्षों से यह भ्रान्त धारणा फैलाई जा रही है कि अमुक प्राकृत का जन्म अमुक प्राकृत से हुआ। वस्तुतः, प्रत्येक प्राकृत का जन्म अपनी अपनी क्षेत्रीय बोलियों से हुआ है। समीपवर्ती क्षेत्रों की बोलियों में सदैव आंशिक समानता और आंशिक असमानताएं स्वाभाविक रूप से होती हैं। यही कारण था कि अचेल परम्परा के शौरसेनी ग्रन्थों में भी कुछ लक्षण अर्धमागधी के और कुछ लक्षण महाराष्ट्री प्राकृत के पाए जाते हैं, क्योंकि यह मध्यदेशीय भाषा रही है। उसका सम्बन्ध पूर्व और पश्चिम– दोनों से है, अतः उस पर दोनों की भाषाओं का प्रभाव आया है। प्राकृतें आपस में बहनें हैं–उनमें ऐसा नहीं है कि एक माता है और दूसरी पुत्री है। जिस प्रकार विभिन्न बहनें उम्र में छोटी बड़ी होती हैं, वैसे ही साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर उनमें कालक्रम हो सकता है, अतः हमें यह दुराग्रह छोड़ना होगा कि सभी प्राकृतें मागधी या शौरसेनी से उद्भूत हैं। प्राकृतें मूलतः क्षेत्रीय बोलियाँ हैं और उन्हीं क्षेत्रीय बोलियों को संस्कारित कर जब उनमें ग्रन्थ लिखे गए, तो वे भाषाएं बन गईं। अर्धमागधी के उद्भव और विकास की यही कहानी है।

****

2 प्राकृत आगमों के भाषिक स्वरूप में हुआ परिवर्तनः एक विमर्श

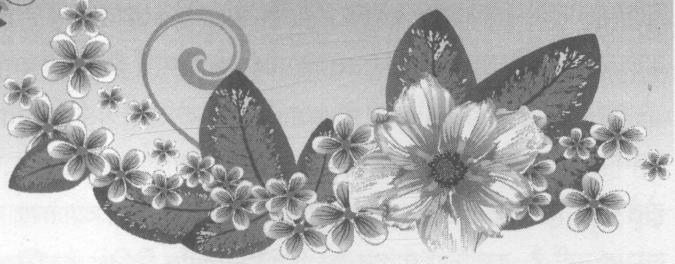

प्राकृत एक भाषा न होकर, भाषा–समूह है। प्राकृत के इन अनेक भाषिक रूपों का उल्लेख हेमचन्द्र प्रभृति प्राकृत–व्याकरण–विदों ने किया है। प्राकृत के जो विभिन्न भाषिक रूप उपलब्ध हैं, उन्हें निम्न भाषिक वर्गों में विभक्त किया जाता है–मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, जैन–शौरसेनी, महाराष्ट्री , जैन महाराष्ट्री, पैशाची, ब्राचड, चूलिका, ठक्की आदि। इन विभिन्न प्राकृतों से ही आगे चलकर अपभ्रंश के विविध रूपों का विकास हुआ और जिनसे कालान्तर में असमिया, बंगला, उड़िया, भोजपुरी या पूर्वी हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी आदि भारतीय भाषाएँ अस्तित्व में आयीं। अतः, प्राकृतें सभी भारतीय भाषाओं की पूर्वज हैं और आधुनिक हिन्दी का विकास भी इन्हीं के आधार पर हुआ।

मेरी दृष्टि में संस्कृत भाषा का विकास भी इन्हीं प्राकृतों को संस्कारित करके और विभिन्न बोलियों के मध्य एक सामान्य सम्पर्क भाषा के रूप में हुआ, जिसका प्राचीन रूप छान्दस (वैदिक संस्कृत) था। वही साहित्यिक संस्कृत की जननी है। जिस प्रकार विभिन्न उत्तर भारतीय बोलियों (अपभ्रंश के विविध रूपों) से हमारी हिन्दी भाषा का विकास हुआ है, उसी प्रकार प्राचीनकाल में विभिन्न प्राकृत बोलियों से संस्कृत भाषा का निर्माण हुआ। संस्कृत शब्द ही इस तथ्य का प्रमाण है कि वह एक संस्कारित भाषा है, जबकि प्राकृत शब्द ही प्राकृत को मूल भाषा के रूप में अधिष्ठित करता है। प्राकृत की

'प्रकृतिर्यस्य संस्कृतम् ' कहकर जो व्याख्या की जाती है, वह मात्र संस्कृत-विदों को प्राकृत-व्याकरण का स्वरूप समझाने की दृष्टि से की जाती है।

प्राकृत के संदर्भ में हमें एक-दो बातें और समझ लेना चाहिए। प्रथम, सभी प्राकृत व्याकरण संस्कृत में लिखे गए हैं, क्योंकि उनका प्रयोजन संस्कृत के विद्वानों को प्राकृत भाषा के स्वरूप का ज्ञान कराना रहा है। वास्तविकता तो यह है कि प्राकृत भाषा की आधारगत बहुविधता के कारण उसका कोई एक सम्पूर्ण व्याकरण बना पाना ही कठिन है। उसका विकास विविध बोलियों से हुआ है और बोलियों में विविधता होती है। साथ ही, उनमें देश-कालगत प्रभावों और मुखसुविधा (उच्चारण सुविधा) के कारण भी परिवर्तन होते रहते हैं। प्राकृत निर्झर की भाँति बहती भाषा है, उसे व्याकरण में आबद्ध कर पाना सम्भव नहीं है, इसीलिए प्राकृत को 'बहुलं' अर्थात् विविध वैकल्पिक रूपों वाली भाषा कहा जाता है।

वस्तुतः, प्राकृतें अपने मूल रूप में भाषा न होकर बोलियाँ ही रही हैं। यहाँ तक कि साहित्यिक नाटकों में भी इनका प्रयोग बोलियों के रूप में ही देखा जाता है और यही कारण है कि मृच्छकटिक जैसे नाटकों में अनेक प्राकृतों का प्रयोग हुआ है। उसके विभिन्न पात्र भिन्न-भिन्न प्राकृतें बोलते हैं। इन विभिन्न प्राकृतों में से अधिकांश का अस्तित्व मात्र बोली के रूप में ही रहा, जिनके निदर्शन केवल नाटकों और अभिलेखों में पाये जाते हैं। मात्र अर्धमागधी जैन-शौरसेनी और जैन-महाराष्ट्री ही ऐसी भाषाएं हैं, जिनमें जैनधर्म के विपुल साहित्य का सृजन हुआ है। पैशाची प्राकृत के प्रभाव से युक्त मात्र एक ग्रन्थ प्राकृत धम्मपद मिला है। इन्हीं जन-बोलियों को जब एक साहित्यिक भाषा का रूप देने का प्रयत्न जैनाचार्यों ने किया, तो उसमें भी आधारगत विभिन्नता के कारण शब्दरूपों की विभिन्नता रह गई। सत्य तो यह है कि विभिन्न बोलियों पर आधारित होने के कारण साहित्यिक प्राकृतों में भी शब्दरूपों की यह विविधता रह जाना स्वाभाविक है।

विभिन्न बोलियों की लक्षणगत विशेषताओं के कारण ही प्राकृत भाषाओं के विविध रूप बने हैं। बोलियों के आधार पर विकसित इन प्राकृतों के जो मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि रूप बने हैं, उनमें भी प्रत्येक में वैकल्पिक शब्दरूप पाये जाते हैं, अतः उन सभी में व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण एकरूपता का अभाव है। फिर भी, भाषाविदों ने व्याकरण के नियमों के आधार पर उनकी कुछ लक्षणगत विशेषताएँ मान ली हैं, जैसे-

मागधी में 'स' के स्थान पर 'श', 'र' के स्थान पर 'ल' का उच्चारण होता है। अतः मागधी में 'पुरुष ' का 'पुलिश' और 'राजा' का 'लाजा' रूप पाया जाता है, जबकि महाराष्ट्री में 'पुरिस' और 'राया' रूप बनता है। जहाँ अर्धमागधी में 'त' श्रुति की प्रधानता है और व्यंजनों के लोप की प्रवृत्ति अल्प है, वहीं शौरसेनी में 'द' श्रुति की और महाराष्ट्री में 'य' श्रुति की प्रधानता पायी जाती है तथा लोप की प्रवृत्ति अधिक है। दूसरे शब्दों में, अर्धमागधी में 'त' यथावत् रहता है, शौरसेनी में 'त' के स्थान पर 'द' और महाराष्ट्री में लुप्त व्यंजन के बाद शेष रहे 'अ' का 'य' होता है। प्राकृतों में इन लक्षणगत विशेषताओं के बावजूद भी धातुरूपों एवं शब्दरूपों में अनेक वैकल्पिक रूप तो पाये ही जाते हैं। यहाँ यह भी स्मरण रहे कि नाटकों में प्रयुक्त विभिन्न प्राकृतों की अपेक्षा जैन ग्रन्थों में प्रयुक्त इन प्राकृत भाषाओं का रूप कुछ भिन्न है और किसी सीमा तक उनमें लक्षणगत बहुरूपता भी है, इसीलिए जैन आगमों में प्रयुक्त मागधी को अर्द्धमागधी कहा जाता है, क्योंकि उसमें मागधी के अतिरिक्त अन्य बोलियों के प्रभाव के कारण मागधी से भिन्न लक्षण भी पाये जाते हैं। जहाँ तक अभिलेखीय प्राकृतों का प्रश्न है, उनमें शब्दरूपों की इतनी अधिक विविधता या भिन्नता है कि उन्हें व्याकरण की दृष्टि से व्याख्यायित कर पाना सम्भव ही नहीं है, क्योंकि उनकी प्राकृत साहित्यिक प्राकृत न होकर स्थानीय बोलियों पर आधारित है।

यापनीय एवं दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, वह जैन-शौरसेनी कही जाती है। उसे जैन-शौरसेनी इसलिये कहते हैं कि उसमें शौरसेनी के अतिरिक्त अर्धमागधी के भी कुछ लक्षण पाये जाते हैं। उस पर अर्धमागधी का स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है, क्योंकि इसमें रचित ग्रन्थों का आधार अर्धमागधी आगम ही थे। इसी प्रकार, श्वेताम्बर आचार्यों ने प्राकृत के जिस भाषायी रूप को अपनाया, वह जैन-महाराष्ट्री कही जाती है। इसमें महाराष्ट्री के लक्षणों के अतिरिक्त कहीं-कहीं अर्धमागधी और शौरसेनी के लक्षण भी पाये जाते हैं, क्योंकि इसमें रचित ग्रन्थों का आधार भी मुख्यतः अर्धमागधी और अंशतः शौरसेनी साहित्य रहा है।

अतः, जैन परम्परा में उपलब्ध किसी भी ग्रन्थ की प्राकृत का स्वरूप निश्चित करना एक कठिन कार्य है, क्योंकि श्वेताम्बर और दिगम्बर-दोनों परम्पराओं में कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं मिलता, जो विशुद्ध रूप से किसी एक प्राकृत का प्रतिनिधित्व करता हो।

आज उपलब्ध विभिन्न श्वेताम्बर अर्धमागधी आगमों में चाहे प्रतिशतों में कुछ भिन्नता हो, किन्तु व्यापक रूप से महाराष्ट्री का प्रभाव देखा जाता है। आचारांग और ऋषिभाषित जैसे प्राचीन स्तर के आगमों में अर्धमागधी के लक्षण प्रमुख होते हुए भी कहीं-कहीं आंशिक रूप से शौरसेनी का एवं विशेषरूप से महाराष्ट्री का प्रभाव आ ही गया है। इसी प्रकार, दिगम्बर परम्परा के शौरसेनी ग्रन्थों में एक ओर अर्धमागधी का, तो दूसरी ओर महाराष्ट्री का प्रभाव देखा जाता है। कुछ ऐसे ग्रन्थ भी हैं, जिनमें लगभग 60 प्रतिशत शौरसेनी एवं 40 प्रतिशत महाराष्ट्री पायी जाती है- जैसे-वसुनन्दी के श्रावकाचार का प्रथम संस्करण, ज्ञातव्य है कि परवर्ती संस्करणों में शौरसेनीकरण अधिक लिया गया है। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र महाराष्ट्री का पर्याप्त प्रभाव देखा जाता है। इन सब विभिन्न भाषिक रूपों के पारस्परिक प्रभाव या मिश्रण के अतिरिक्त मुझे अपने अध्ययन के दौरान एक महत्त्वपूर्ण बात यह मिली कि जहाँ शौरसेनी ग्रन्थों में जब अर्धमागधी आगमों के उद्धरण दिये गये, तो वहाँ उन्हें अपने अर्धमागधी रूप में न देकर उनका शौरसेनी रूपान्तरण करके दिया गया है। इसी प्रकार, महाराष्ट्री के ग्रन्थों में अथवा श्वेताम्बर आचार्यों द्वारा लिखित ग्रन्थों में जब भी शौरसेनी के ग्रन्थ का उद्धरण दिया गया, तो सामान्यतया उसे मूल शौरसेनी में न रखकर उसका महाराष्ट्री रूपान्तरण कर दिया गया। उदाहरण के रूप में, भगवती आराधना की टीका में जो उत्तराध्ययन, आचारांग आदि के उद्धरण पाये जाते हैं, वे उनके अर्धमागधी रूप में न होकर शौरसेनी रूप में ही मिलते हैं। इसी प्रकार, हरिभद्र ने शौरसेनी प्राकृत के 'यापनीय-तन्त्र' नामक ग्रन्थ से 'ललितविस्तरा' में जो उद्धरण दिया, वह महाराष्ट्री प्राकृत में ही पाया जाता है।

इस प्रकार, चाहे अर्धमागधी आगम हो या शौरसेनी आगम, उनके उपलब्ध संस्करणों की भाषा न तो पूर्णतः अर्धमागधी है और न ही शौरसेनी। अर्धमागधी और शौरसेनी-दोनों ही प्रकार के आगमों पर महाराष्ट्री का व्यापक प्रभाव देखा जाता है जो कि इन दोनों की अपेक्षा परवर्ती है। इसी प्रकार, महाराष्ट्री प्राकृत के कुछ ग्रन्थों पर परवर्ती अपभ्रंश का भी प्रभाव देखा जाता है। इन आगमों अथवा आगम तुल्य ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप की विविधता के कारण उनके कालक्रम तथा पारस्परिक आदान-प्रदान को समझने में विद्वानों को पर्याप्त उलझनों का अनुभव होता है, मात्र इतना ही नहीं, कभी-कभी इन प्रभावों के कारण इन ग्रन्थों को परवर्ती भी सिद्ध कर दिया जाता है।

आज आगमिक साहित्य के भाषिक स्वरूप की विविधता को दूर करने तथा उन्हें अपने मूल स्वरूप में स्थिर करने के कुछ प्रयत्न भी प्रारम्भ हुए हैं। सर्वप्रथम डॉ. के.चन्द्रा अर्थात् ऋषभचन्द्र ने प्राचीनै अर्धमागधी आगम, जैसे – आचारांग, सूत्रकृतांग में आये महाराष्ट्री के प्रभाव को दूर करने एवं उन्हें अपने मूल स्वरूप में लाने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया है, क्योंकि एक ही अध्याय या उद्देशक में 'लोय' और 'लोग' या 'आया' और 'आता' दोनों ही रूप देखे जाते हैं। इसी प्रकार, कहीं क्रिया–रूपों में भी 'त'श्रुति उपलब्ध होती है और कहीं उसके लोप की प्रवृत्ति देखी जाती है। प्राचीन आगमों में हुए इन भाषिक परिवर्तनों से उनके अर्थ में भी कितनी विकृति आयी, इसका भी डॉ.चन्द्रा ने अपने लेखों के माध्यम से संकेत किया है तथा यह बताया है कि अर्धमागधी 'खेतन्न' शब्द किस प्रकार 'खेयन्न' बन गया और उसका जो मूल 'क्षेत्रज्ञ' अर्थ था, वह बदलकर 'खेदज्ञ' हो गया। इन सब कारणों से उन्होंने पाठ संशोधन हेतु एक योजना प्रस्तुत की और आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक की भाषा का सम्पादन कर उसे प्रकाशित भी किया है। इसी क्रम में मैंने भी आगम संस्थान उदयपुर के डॉ. सुभाष कोठारी एवं डॉ. सुरेश सिसोदिया द्वारा आचारांग के विभिन्न प्रकाशित संस्करणों से पाठान्तरों का संकलन करवाया है। इसके विरोध में पहला स्वर श्री जौहरीमलजी पारख ने उठाया है। श्वेताम्बर विद्वानों में आयी इस चेतना का प्रभाव दिगम्बर विद्वानों पर भी पड़ा और आचार्य श्री विद्यानन्दजी के निर्देशन में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को पूर्णतः शौरसेनी में रूपान्तरित करने का एक प्रयत्न प्रारम्भ हुआ है। इस दिशा में प्रथम कार्य बलभद्र जैन द्वारा सम्पादित समयसार, नियमसार आदि का कुन्दकुन्द भारती से प्रकाशन है, यद्यपि दिगम्बर परम्परा में ही पं.खुशालचन्द गोरावाला, पद्मचन्द्र शास्त्री आदि दिगम्बर विद्वानों ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया।

आज श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओं में आगम या आगम रूप में मान्य ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप के पुनः संशोधन की जो चेतना जागृत हुई है, उसका कितना औचित्य है, इसकी चर्चा तो मैं बाद में करूँगा। सर्वप्रथम तो इसे समझना आवश्यक है कि इन प्राकृत आगम ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप में किन कारणों से और किस प्रकार के परिवर्तन आये हैं, क्योंकि इस तथ्य को पूर्णतः समझे बिना केवल एक–दूसरे के अनुकरण के आधार पर अथवा अपनी परम्परा को प्राचीन सिद्ध करने हेतु किसी ग्रन्थ के भाषिक स्वरूप में

परिवर्तन कर देना सम्भवतः इन ग्रन्थों के ऐतिहासिक क्रम एवं काल निर्णय एवं इनके पारस्परिक प्रभाव को समझने में बाधा उत्पन्न करेगा और इससे कई प्रकार के अन्य अनर्थ भी सम्भव हो सकते हैं।

किन्तु, इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि जैनाचार्यों एवं जैन विद्वानों ने अपने भाषिक व्यामोह के कारण अथवा प्रचलित भाषा के शब्दरूपों के आधार पर प्राचीन स्तर के आगम ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन किया है। जैन आगमों की वाचना को लेकर जो मान्यताएं प्रचलित हैं, उनके अनुसार सर्वप्रथम ई.पू.तीसरी शती में वीर निर्वाण के लगभग एक सौ पचास वर्ष पश्चात् पाटलीपुत्र में प्रथम वाचना हुई। इसमें उस काल तक निर्मित आगम ग्रन्थों, विशेषतः अंग आगमों का सम्पादन किया गया। यह स्पष्ट है कि पटना की यह वाचना मगध में हुई थी और इसलिए इसमें आगमों की भाषा का जो स्वरूप निर्धारित हुआ होगा, वह निश्चित ही मागधी रहा होगा। इसके पश्चात् लगभग ई.पू.प्रथम शती में खारवेल के शासनकाल में उड़ीसा में द्वितीय वाचना हुई, यहाँ पर इसका स्वरूप अर्धमागधी रहा होगा, किन्तु इसके लगभग चार सौ वर्ष पश्चात् स्कंदिल और आर्य नागार्जुन की अध्यक्षता में क्रमशः मथुरा व वलभी में वाचनाएँ हुईं। सम्भव है कि मथुरा में हुई इस वाचना में अर्धमागधी आगमों पर व्यापक रूप से शौरसेनी का प्रभाव आया होगा। वलभी के वाचना वाले आगमों में नागार्जुनीय पाठों के तो उल्लेख मिलते हैं, किन्तु स्कंदिल की वाचना के पाठ-भेदों का कोई निर्देश नहीं है। स्कंदिल की वाचना सम्बन्धी पाठभेदों का यह अनुल्लेख विचारणीय है। नन्दीसूत्र में स्कंदिल के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उनके अनुयोग (आगम पाठ) ही दक्षिण भारत क्षेत्र में आज भी प्रचलित हैं। सम्भवतः, यह संकेत यापनीय आगमों के सम्बन्ध में होगा। यापनीय परम्परा जिन आगमों को मान्य कर रही थीं, उसमें व्यापक रूप से भाषिक परिवर्तन किया गया था और उन्हें शौरसेनी रूप दे दिया गया था। यद्यपि आज प्रमाण के अभाव में निश्चित रूप से यह बता पाना कठिन है कि यापनीय आगमों की भाषा का स्वरूप क्या था, क्योंकि यापनीयों द्वारा मान्य और व्याख्यायित वे आगम उपलब्ध नहीं हैं। यद्यपि अपराजित के द्वारा दशवैकालिक पर टीका लिखे जाने का निर्देश प्राप्त होता है, किन्तु वह टीका भी आज प्राप्त नहीं है। अतः, यह कहना तो कठिन है कि यापनीय आगमों की भाषा कितनी अर्धमागधी थी और कितनी शौरसेनी, किन्तु इतना तय है कि यापनीयों ने अपने ग्रन्थों में

आगमों, प्रकीर्णकों एवं निर्युक्तियों की जिन गाथाओं को गृहीत किया है अथवा उद्धृत किया है, वे सभी आज शौरसेनी रूपों में ही पायी जाती हैं, यद्यपि आज भी उन पर बहुत कुछ अर्धमागधी का प्रभाव शेष रह गया है। चाहे यापनीयों ने सम्पूर्ण आगमों के भाषाई स्वरूप को अर्धमागधी से शौरसेनी में रूपान्तरित किया हो या नहीं, किन्तु उन्होंने आगम साहित्य से जो कथाएं उद्धृत की हैं, वे अधिकांशतः आज अपने शौरसेनी स्वरूप में पायी जाती हैं। यापनीय आगमों के भाषिक स्वरूप में यह परिवर्तन जानबूझकर किया था, जब मथुरा जैनधर्म का केन्द्र बना, तब सहज रूप में यह परिवर्तन आ गया था, यह कहना कठिन है। जैनधर्म सदैव से क्षेत्रीय भाषाओं को अपनाता रहा और यही कारण हो सकता है कि श्रुत-परम्परा से चली आ रही इन गाथाओं में या तो सहज ही क्षेत्रीय प्रभाव आया हो, या फिर उस क्षेत्र की भाषा को ध्यान में रखकर उसे उस रूप में परिवर्तित किया गया हो।

यह भी सत्य है कि वलभी में जो देवर्धिगणि की अध्यक्षता में वी.नि.सं.980 या 993 में अन्तिम वाचना हुई, उसमें क्षेत्रगत महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव जैन आगमों पर विशेषरूप से आया होगा, यही कारण है कि वर्त्तमान में श्वेताम्बर मान्य अर्धमागधी आगमों की भाषा का जो स्वरूप उपलब्ध है, उस पर महाराष्ट्री का प्रभाव ही अधिक है। अर्धमागधी आगमों में भी उन आगमों की भाषा महाराष्ट्री से अधिक प्रभावित हुई है, जो अधिक व्यवहार या प्रचलन में रहे। उदाहरण के रूप में, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक जैसे प्राचीन स्तर के आगम महाराष्ट्री से अधिक प्रभावित हैं, जबकि ऋषिभाषित जैसा आगम महाराष्ट्री के प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त रहा है। उस पर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव अत्यल्प है। आज अर्धमागधी का जो आगम साहित्य हमें उपलब्ध है, उसमें अर्धमागधी का सर्वाधिक प्रतिशत इसी ग्रन्थ में पाया जाता है। जैन आगमिक एवं आगमरूप में मान्य अर्धमागधी तथा शौरसेनी ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर अनेक रूपों में दिया जा सकता है। वस्तुतः, इन ग्रन्थों में हुए भाषिक परिवर्तनों का कोई एक ही कारण नहीं है, अपितु अनेक कारण हैं, जिन पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

1. भारत में जहाँ वैदिक परम्परा में वेद-वचनों को मंत्र मानकर उनके स्वर-व्यंजन की उच्चारण योजना को अपरिवर्तनीय बनाये रखने पर अधिक बल दिया गया, उनके लिए शब्द और ध्वनि ही महत्वपूर्ण रहे और अर्थ गौण। आज भी अनेक वेदपाठी ब्राह्मण ऐसे हैं,

जो वेदमंत्रों के उच्चारण, लय आदि के प्रति अत्यन्त सतर्क रहते हैं, किन्तु वे उनके अर्थों को नहीं जानते हैं। यही कारण है कि वेद शब्दरूप में यथावत् बने रहे। इसके विपरीत, जैन परम्परा में यह माना गया कि तीर्थंकर अर्थ के उपदेष्टा होते हैं, उनके वचनों को शब्दरूप तो गणधर आदि के द्वारा दिया जाता है। जैनाचार्यों के लिए कथन का तात्पर्य ही प्रमुख था, उन्होंने कभी भी शब्दों पर बल नहीं दिया। शब्दों में चाहे परिवर्तन हो जाय, लेकिन अर्थों में परिवर्तन नहीं होना चाहिये, यही जैन आचार्यों का प्रमुख लक्ष्य रहा। शब्दरूपों की उनकी इस उपेक्षा के फलस्वरूप आगमों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन होते गए।

2. आगम-साहित्य में जो भाषिक परिवर्तन हुए, उसका दूसरा कारण यह था कि जैनभिक्षु संघ में विभिन्न प्रदेशों के भिक्षुगण सम्मिलित थे। अपनी-अपनी प्रादेशिक बोलियों से प्रभावित होने के कारण उनकी उच्चारण शैली में भी स्वाभाविक भिन्नता रहती, फलतः आगम-साहित्य के भाषिक स्वरूप में भिन्नताएं आ गयीं।

3. जैनभिक्षु सामान्यतया भ्रमणशील होते हैं, उनकी भ्रमणशीलता के कारण उनकी बोलियों, भाषाओं पर अन्य प्रदेशों की बोलियों का प्रभाव पड़ता ही है। फलतः, आगमों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन या मिश्रण हो गया। उदाहरण के रूप में, जब पूर्व का भिक्षु पश्चिमी प्रदेशों में अधिक विहार करता है, तो उसकी भाषा में पूर्व एवं पश्चिम दोनों ही बोलियों का प्रभाव आ ही जाता है, अतः भाषिक स्वरूप की एकरूपता समाप्त हो जाती है।

4. सामान्यतया, बुद्धवचन बुद्ध निर्वाण के 200-300 वर्ष के अन्दर-ही-अन्दर लिखित रूप में आ गए, अतः उनके भाषिक स्वरूप में उनके रचनाकाल के बाद बहुत अधिक परिवर्तन नहीं आया, तथापि उनकी उच्चारण शैली विभिन्न देशों में भिन्न भिन्न रही और वह आज भी है। थाई, बर्मा और श्रीलंका के भिक्षुओं का त्रिपिटक का उच्चारण भिन्न भिन्न होता है, फिर भी उनके लिखित स्वरूप में बहुत कुछ एकरूपता है। इसके विपरीत, जैन आगमिक एवं आगमतुल्य साहित्य एक सुदीर्घकाल तक लिखित रूप में नहीं आ सका, वह गुरु-शिष्य परम्परा से मौखिक ही चलता रहा। फलतः, देशकालगत उच्चारण भेद से उनके भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया।

भारत में कागज का प्रचलन न होने से ग्रन्थ भोजपत्रों या ताड़पत्रों पर लिखे जाते

थे। ताड़पत्रों पर ग्रन्थों को लिखवाना और उन्हें सुरक्षित रखना जैन मुनियों की अहिंसा एवं अपरिग्रह की भावना के प्रतिकूल था। लगभग ई.सन् की 5 वीं शती तक इस कार्य को पाप-प्रवृत्ति माना जाता रहा और इसके लिए दण्ड की व्यवस्था भी थी। फलतः, महावीर के पश्चात् लगभग 1000 वर्ष तक जैन साहित्य श्रुत-परम्परा पर ही आधारित रहा। श्रुत-परम्परा के आधार पर आगमों के भाषिक स्वरूप को सुरक्षित रखना कठिन था, अतः उच्चारण शैली का भेद आगमों के भाषिक स्वरूप के परिवर्तन का कारण बन गया।

5. आगमिक एवं आगम-तुल्य साहित्य में आज भाषिक रूपों का जो परिवर्तन देखा जाता है, उसका एक कारण लहियों (प्रतिलिपिकारों) की असावधानी भी रही है। प्रतिलिपिकार जिस क्षेत्र के होते थे, उन पर भी उस क्षेत्र की बोली/भाषा का प्रभाव रहता था और असावधानी से अपनी प्रादेशिक बोली के शब्दरूपों को लिख देते थे। उदाहरण के रूप में, चाहे मूल पाठ में 'गच्छति' लिखा हो, लेकिन प्रचलन में 'गच्छई' का व्यवहार है, तो प्रतिलिपिकार 'गच्छई' रूप ही लिख देगा।

6. जैन आगम एवं आगमतुल्य ग्रन्थ में आये भाषिक परिवर्तनों का एक कारण यह भी है कि वे विभिन्न कालों में एवं विभिन्न प्रदेशों में सम्पादित होते रहे हैं। सम्पादकों ने उनके प्राचीन स्वरूप को स्थिर रखने का प्रयत्न नहीं किया, अपितु उन्हें सम्पादित करते समय अपने युग एवं क्षेत्र के प्रचलित भाषायी स्वरूप के आधार पर उनमें परिवर्तन कर दिया। यही कारण है कि अर्धमागधी में लिखित आगम भी जब मथुरा में संकलित एवं संपादित हुए, तो उनका भाषिक स्वरूप अर्धमागधी की अपेक्षा शौरसेनी के निकट हो गया और जब वलभी में लिखे गए, तो वह महाराष्ट्री से प्रभावित हो गया। यह अलग बात है कि ऐसा परिवर्तन सम्पूर्ण रूप में न हो सका और उसमें अर्धमागधी के तत्त्व भी बने रहे।

सम्पादन और प्रतिलिपि करते समय भाषिक स्वरूप की एकरूपता पर विशेष बल नहीं दिए जाने के कारण जैन आगम एवं आगमतुल्य साहित्य अर्धमागधी, शौरसेनी एवं महाराष्ट्री की खिचड़ी बन गया और विद्वानों ने उनकी भाषा को जैन-शौरसेनी और जैन-महाराष्ट्री-ऐसे नाम दे दिए। न प्राचीन संकलनकर्त्ताओं ने उस पर ध्यान दिया और न आधुनिक काल के सम्पादकों, प्रकाशनों में इस तथ्य पर ध्यान दिया गया। परिणामतः, एक ही आगम के एक ही विभाग में 'लोक', 'लोग', 'लोअ' और 'लोय'-ऐसे चारों ही रूप देखने को मिल जाते हैं।

यद्यपि सामान्य रूप से तो इन भाषिक रूपों के परिवर्तनों के कारण कोई बहुत बड़ा अर्थ-भेद नहीं होता है, किन्तु कभी-कभी इनके कारण भयंकर अर्थ-भेद भी हो जाता है। इस सन्दर्भ में एक-दो उदाहरण देकर अपनी बात को स्पष्ट करना चाहूंगा। उदाहरण के रूप में, सूत्रकृतांग का प्राचीन पाठ 'रामपुत्ते' बदलकर चूर्णि में 'रामाउत्ते' हो गया, किन्तु वही पाठ सूत्रकृतांग की शीलांक की टीका में 'रामगुत्ते' हो गया। इस प्रकार, जो शब्द रामपुत्र का वाचक था, वह रामगुप्त का वाचक हो गया। इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने उसे गुप्त शासक रामगुप्त मान लिया है और उसके द्वारा प्रतिष्ठापित विदिशा की जिन मूर्त्तियों के अभिलेखों से उसकी पुष्टि भी कर दी, जबकि वस्तुतः वह निर्देश बुद्ध के समकालीन रामपुत्र नामक श्रमण आचार्य के सम्बन्ध में था, जो ध्यान एवं योग के महान् साधक थे और जिनसे स्वयं भगवान् बुद्ध ने ध्यान-प्रक्रिया सीखी थी। उनसे सम्बन्धित एक अध्ययन ऋषिभाषित में आज भी है, जबकि अंतकृत्दशा में उनसे सम्बन्धित जो अध्ययन था, वह आज विलुप्त हो चुका है। इसकी विस्तृत चर्चा (Appects of Jainology Vol.II) में मैंने अपने एक स्वतंत्र लेख में की है। इसी प्रकार, आचारांग एवं सूत्रकृतांग में प्रयुक्त 'खेत्तन्न' शब्द, जो 'क्षेत्रज्ञ' (आत्मज्ञ) का वाची था, महाराष्ट्री के प्रभाव से आगे चलकर 'खेयण्ण' बन गया और उसे 'खेदज्ञ' का वाची मान लिया गया। इसकी चर्चा प्रो. के.आर.चन्द्रा ने श्रमण 1992 में प्रकाशित अपने लेख में की है। अतः, स्पष्ट है कि इन परिवर्तनों के कारण अनेक स्थलों पर बहुत अधिक अर्थभेद भी हो गये हैं। आज वैज्ञानिक रूप से सम्पादन की जो शैली विकसित हुई है, उसके माध्यम से इन समस्याओं के समाधान की अपेक्षा है। जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया था कि आगमिक एवं आगम तुल्य ग्रन्थों के प्राचीन स्वरूप को स्थिर करने के लिए श्वेताम्बर परम्परा में प्रो. के.आर.चन्द्र और दिगम्बर परम्परा में आचार्य श्री विद्यानन्दजी के सान्निध्य में श्री बलभद्र जैन ने प्रयत्न प्रारम्भ किया है, किन्तु इन प्रयत्नों का कितना औचित्य है और इस सन्दर्भ में किन-किन सावधानियों की आवश्यकता है, यह भी विचारणीय है। यदि प्राचीन रूपों को स्थिर करने का यह प्रयत्न पूर्ण सावधानी और ईमानदारी से न हुआ, तो इसके दुष्परिणाम भी हो सकते हैं।

प्रथमतः, प्राकृत के विभिन्न भाषिक रूप लिये हुए इन ग्रन्थों में पारस्परिक प्रभाव और पारस्परिक अवदान को अर्थात् किसने किस परम्परा से क्या लिया है, इसे समझने

के लिए आज जो सुविधा है, वह इनमें भाषिक एकरूपता लाने पर समाप्त हो जायेगी। आज नमस्कार मंत्र में 'नमो' और 'णमो' शब्द का जो विवाद है, उसका समाधान और कौन शब्दरूप प्राचीन है, इसका निश्चय हम खारवेल और मथुरा के अभिलेखों के आधार पर कर सकते हैं और कह सकते हैं कि अर्धमागधी का 'नमो' रूप प्राचीन है, जबकि शौरसेनी और महाराष्ट्र का 'णमो' रूप परवर्ती है, क्योंकि ई. की दूसरी शती तक अभिलेखों में कहीं भी 'णमो' रूप नहीं मिलता, जबकि छठवीं शती से दक्षिण भारत के जैन अभिलेखों में 'णमो' रूप बहुतायत से मिलता है। इससे फलित निकलता है कि 'णमो' रूप परवर्ती है और जिन ग्रन्थों में 'न' के स्थान पर 'ण' की बहुलता है, वे ग्रन्थ भी परवर्ती हैं। यह सत्य है कि 'नमो' से परिवर्तित होकर ही 'णमो' रूप बना है। जिन अभिलेखों में 'णमो' रूप मिलता है, वे सभी ई.सन् की चौथी शती के बाद के ही हैं। इसी प्रकार से, नमस्कार मंत्र की अंतिमगाथा में--एसो पंच नमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो। मंगलाणं च सव्वेसि पढ़मं हवइ मंगलं--ऐसा पाठ है। इनमें प्रयुक्त प्रथमा विभक्ति में 'एकार' के स्थान पर 'ओकार' का प्रयोग तथा 'हवति' के स्थान पर 'हवइ' शब्दरूप का प्रयोग यह बताता है कि इसकी रचना अर्धमागधी से महाराष्ट्री के संक्रमणकाल के बीच की है और यह अंश नमस्कार मंत्र में बाद में जोड़ा गया है। इसमें शौरसेनी रूप 'होदि' या 'हवदि' के स्थान पर महाराष्ट्री शब्दरूप 'हवई' है, जो यह बताता है कि यह अंश मूलतः महाराष्ट्री में निर्मित हुआ था और वहीं से ही शौरसेनी में लिया गया है।

इसी प्रकार, शौरसेनी आगमों में भी इसके 'हवई' शब्दरूप की उपस्थिति भी यही सूचित करती है कि उन्होंने इस अंश को परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत के ग्रन्थों से ही ग्रहण किया है, अन्यथा वहाँ मूल शौरसेनी का 'हवदि' या 'होदि' रूप ही होना था। आज यदि किसी को शौरसेनी का अधिक आग्रह हो, तो क्या वे नमस्कार मंत्र के इस 'हवई' शब्द को 'हवदि' या 'होदि' के रूप में परिवर्तित कर देंगे? जबकि तीसरी-चौथी शती से आज तक कहीं भी 'हवइ' के अतिरिक्त अन्य कोई शब्दरूप उपलब्ध नहीं है।

प्राकृत के भाषिक स्वरूप के सम्बन्ध में दूसरी कठिनाई यह है कि प्राकृत का मूल आधार क्षेत्रीय बोलियाँ होने से उसके एक ही काल में विभिन्न रूप रहे हैं। प्राकृत व्याकरण में जो 'बहुलं' शब्द है, वह स्वयं इस बात का सूचक है कि चाहे शब्दरूप हो, चाहे धातु रूप हो या उपसर्ग आदि हो, उनकी बहुविधता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक

बार हम मान भी लें कि एक क्षेत्रीय बोली में एक ही रूप रहा होगा, किन्तु चाहे वह शौरसेनी, अर्धमागधी या महाराष्ट्री प्राकृत हो, साहित्यिक भाषा के रूप में इनके विकास के मूल में विविध बोलियाँ रही हैं। अतः, भाषिक एकरूपता का प्रयत्न प्राकृत की अपनी मूल प्रकृति की दृष्टि से कितना समीचीन होगा, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

पुनः, चाहे हम एक बार यह मान भी लें कि प्राचीन अर्धमागधी का जो भी साहित्यिक रूप रहा, वह बहुविध नहीं था और उसमें व्यंजनों के लोप, उसके स्थान पर 'अ' या 'य' की उपस्थिति अथवा 'न' के स्थान पर 'ण' की प्रवृत्ति नहीं रही होगी और इस आधार पर आचारांग आदि की भाषा का अर्धमागधी स्वरूप स्थिर करने का प्रयत्न उचित भी मान लिया जाये, किन्तु यह भी सत्य है कि जैन-परम्परा में शौरसेनी का आगमतुल्य साहित्य मूलतः अर्धमागधी आगमसाहित्य के आधार पर और उससे ही विकसित हुआ है अतः उसमें जो अर्धमागधी या महाराष्ट्री प्रभाव देखा जाता है, उसे पूर्णतः निकाल देना क्या उचित होगा? यदि हमने यह दुःसाहस किया, तो उससे ग्रन्थों के काल निर्धारण आदि में और उनकी पारस्परिक प्रभावकता को समझने में आज जो सुगमता है, वह नष्ट हो जाएगी।

यही स्थिति महाराष्ट्री प्राकृत की भी है। उसका आधार भी अर्धमागधी और अंशतः शौरसेनी आगम रहे हैं। यदि उनके प्रभाव को निकालने का प्रयत्न किया गया, तो वह भी उचित नहीं होगा। खेयण्ण का प्राचीन रूप खेतन्न है। महाराष्ट्री प्राकृत के ग्रन्थ में एक बार खेतन्न रूप प्राप्त होता है, तो उसे हम प्राचीन शब्दरूप मानकर रख सकते हैं, किन्तु अर्धमागधी के ग्रन्थ में 'खेतन्न' रूप उपलब्ध होते हुए भी महाराष्ट्री रूप 'खेयन्न' बनाये रखना उचित नहीं होगा। जहाँ तक अर्धमागधी आगम-ग्रन्थों का प्रश्न है, उन पर परवर्ती काल में जो शौरसेनी या महाराष्ट्री प्राकृतों का प्रभाव आ गया है, उसे दूर करने का प्रयत्न किसी सीमा तक उचित माना जा सकता है, किन्तु इस प्रयत्न में भी निम्न सावधानियाँ अपेक्षित हैं-

1. प्रथम तो यह कि यदि मूल हस्तप्रतियों में कहीं भी वह शब्दरूप नहीं मिलता है, तो उस शब्दरूप को किसी भी स्थिति में परिवर्तित न किया जाये, किन्तु प्राचीन अर्धमागधी शब्दरूप, जो किसी भी मूल हस्तप्रति में एक दो स्थानों पर भी उपलब्ध होता है, उसे अन्यत्र परिवर्तित किया जा सकता है। यदि किसी अर्धमागधी के प्राचीन ग्रन्थ में

'लोग' एवं 'लोय' –दोनों रूप मिलते हों, तो वहाँ अर्वाचीन रूप 'लोय' को प्राचीन रूप 'लोग' में रूपान्तरित किया जा सकता है, किन्तु इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि यदि एक पूरा का पूरा गद्यांश या पद्यांश महाराष्ट्री में है और उसमें प्रयुक्त शब्दों के वैकल्पिक अर्धमागधी रूप किसी एक भी आदर्श के प्रति में नहीं मिलते हैं, तो उन अंशों को परिवर्तित न किया जाये, क्योंकि संभावना यह हो सकती है कि वह अंश परवर्ती काल में प्रक्षिप्त हुआ हो, अतः उस अंश के प्रक्षिप्त होने का आधार, जो उसका भाषिक स्वरूप है, उसको बदलने से आगमिक शोध में बाधा उत्पन्न होगी। उदाहरण के रूप में, आचारांग के प्रारंभ में 'सुयं मे अउसंतेण भगवया एयं अक्खाय' के अंश को ही लें, जो सामान्यतया सभी प्रतियों में इसी रूप में मिलता है, यदि हम इसे अर्धमागधी में रूपान्तरित करके 'सुतं मे आउसन्तेणं भगवता एवं अक्खाता' कर देंगे, तो इसके प्रक्षिप्त होने की जो सम्भावना है, वह समाप्त हो जावेगी। अतः, प्राचीन स्तर के आगमों में किस अंश के भाषिक स्वरूप को बदला जा सकता है और किसको नहीं, इस पर गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है।

इसी सन्दर्भ में ऋषिभाषित के एक अन्य उदाहरण पर भी विचार कर सकते हैं। इसमें प्रत्येक ऋषि के कथन को प्रस्तुत करते हुए सामान्यतया यह गद्यांश मिलता है-- 'अरहता इसिणा बुइन्तं..', किन्तु हम देखते हैं कि इसके 45 अध्यायों में से 37 में 'बुइन्तं' पाठ है, जबकि 7 में 'बुइयं' पाठ है। ऐसी स्थिति में यदि इस 'बुइयं' को 'बुइन्तं' में बदला जा सकता है, किन्तु यदि किसी शब्दरूप के आगे-पीछे के शब्दरूप भी महाराष्ट्री प्रभाव वाले हों, तो फिर उसे बदलने के लिए हमें एक बार सोचना होगा।

कुछ स्थितियों में यह भी होता है कि ग्रन्थ की एक ही आदर्श प्रति उपलब्ध हो, ऐसी स्थिति में जब तक उनकी प्रतियाँ उपलब्ध न हों, तब तक उनके साथ छेड़छाड़ करना उचित नहीं होगा। अतः, अर्धमागधी या शौरसेनी के भाषिक रूपों को परिवर्तित करने के किसी निर्णय से पूर्व सावधानी और बौद्धिक ईमानदारी की आवश्यकता है। इस सन्दर्भ में अन्तिम रूप से एक बात और निवेदन करना आवश्यक है, वह है कि यदि मूलपाठ में किसी प्रकार का परिवर्तन किया जाता है, तो भी इतना तो अवश्य ही करणीय होगा कि पाठान्तरों के रूप में अन्य उपलब्ध शब्दरूपों को भी अनिवार्य रूप से रखा जाय, साथ ही भाषिक रूपों को परिवर्तित करने के लिए जो प्रति आधाररूप में मान्य की गयी हो,

उसकी मूल प्रति छाया को भी प्रकाशित किया जाय, क्योंकि छेड़छाड़ के इस क्रम में जो साम्प्रदायिक आग्रह कार्य करेंगे, उससे ग्रन्थ की मौलिकता को पर्याप्त धक्का लग सकता है।

आचार्य शान्तिसागरजी और उनके समर्थक कुछ दिगम्बर विद्वानों द्वारा षट्खण्डागम (1/1/93) में से 'संजद' पाठ को हटाने की एवं श्वेताम्बर परम्परा में मुनि श्री फूलचन्दजी द्वारा परम्परा के विपरीत लगने वाले कुछ आगम के अंशों को हटाने की कहानी अभी हमारे सामने ताजा ही है। यह तो भाग्य ही था कि इस प्रकार के प्रयत्नों को दोनों ही समाज के प्रबुद्ध वर्ग ने स्वीकार नहीं किया और इस प्रकार से सैद्धान्तिक संगति के नाम पर जो कुछ अनर्थ हो सकता था, उससे हम बच गये, किन्तु आज भी 'षट्खण्डागम' के ताम्रपत्रों एवं प्रथम संस्करण की मुद्रित प्रतियों में 'संजद' शब्द अनुपस्थित है, इसी प्रकार फूलचन्द जी द्वारा सम्पादित अंग-सुत्ताणि में कुछ आगम पाठों का जो विलोपन हुआ है, वे प्रतियाँ तो भविष्य में भी रहेंगी, अतः भविष्य में तो यह सब निश्चय ही विवाद का कारण बनेगा,इसलिये ऐसे किसी भी प्रयत्न से पूर्व पूरी सावधानी एवं सजगता आवश्यक है। मात्र संजद पद हट जाने से उस ग्रन्थ के यापनीय होने की जो पहचान है, वही समाप्त हो जाती और जैन परम्परा के इतिहास के साथ अनर्थ हो जाता।

उपरोक्त समस्त चर्चा से मेरा प्रयोजन यह नहीं है कि अर्धमागधी आगम एवं आगम तुल्य शौरसेनी ग्रन्थों के भाषायी स्वरूप की एकरूपता एवं उनके प्राचीन स्वरूप को स्थिर करने का कोई प्रयत्न न हो। मेरा दृष्टिकोण मात्र यह है कि उसमें विशेष सतर्कता की आवश्यकता है। साथ ही, इस प्रयत्न का परिणाम यह न हो कि जो परवर्ती ग्रन्थ प्राचीन अर्धमागधी आगम साहित्य के आधार पर निर्मित हुए हैं, उनकी उस रूप में पहचान ही समाप्त कर दी जाये और इस प्रकार आज ग्रन्थों के पौर्वापर्य के निर्धारण का जो भाषायी आधार है, वह भी नष्ट हो जाये। यदि प्रश्नव्याकरण, नन्दीसूत्र आदि परवर्ती आगमों की भाषा को प्राचीन अर्धमागधी में बदला गया, अथवा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का या मूलाचार और भगवती आराधना का पूर्ण शौरसेनीकरण किया गया, तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि इससे उनकी पहचान और इतिहास ही नष्ट हो जायेगा।

जो लोग इस परिवर्तन के पूर्णतः विरोधी हैं, उनसे भी मैं सहमत नहीं हूँ। मैं यह

मानता हूँ कि आचारांग, ऋषिभाषित एवं सूत्रकृतांग जैसे प्राचीन आगमों का इस दृष्टि से पुनः सम्पादन होना चाहिए। इस प्रक्रिया के विरोध में जो स्वर उभरकर सामने आये हैं, उनमें जौहरीमलजी पारख का स्वर प्रमुख है। वे विद्वान् अध्येता और श्रद्धाशील–दोनों ही हैं, फिर भी तुलसी–प्रज्ञा में उनका जो लेख प्रकाशित हुआ है, उसमें उनका वैदुष्य श्रद्धा के अतिरेक में दब–सा गया है। उनका सर्वप्रथम तर्क यह है कि आगम सर्वज्ञ के वचन हैं अतः उन पर व्याकरण के नियम थोपे नहीं जा सकते कि वे व्याकरण के नियमों के अनुसार ही बोलें। यह कोई तर्क नहीं, मात्र उनकी श्रद्धा का अतिरेक ही है। प्रथम प्रश्न तो यही है कि क्या अर्धमागधी आगम अपने वर्त्तमान स्वरूप में सर्वज्ञ की वाणी है? क्या उनमें किसी प्रकार का विलोपन, प्रक्षेप या परिवर्तन नहीं हुआ है? यदि ऐसा है, तो उनमें अनेक स्थलों पर अन्तर्विरोध क्यों है? कहीं लोकान्तिक देवों की संख्या आठ है, तो कहीं नौ क्यों है? कहीं चार स्थावर और दो त्रस हैं, कहीं तीन त्रस और तीन स्थावर कहे गये, तो कहीं पाँच स्थावर और एक त्रस। यदि आगम शब्दशः महावीर की वाणी है, तो आगमों और विशेष रूप से अंग–आगमों में महावीर के तीन सौ वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुए गणों के उल्लेख क्यों हैं? यदि कहा जाय कि भगवान् सर्वज्ञ थे और उन्होंने भविष्य की घटनाओं को जानकर यह उल्लेख किया, तो प्रश्न यह है कि वह कथन व्याकरण की दृष्टि से भविष्यकालिक भाषा रूप में होना था, वह भूतकाल में क्यों कहा गया। क्या भगवती में गोशालक के प्रति जिस अशिष्ट शब्दावली का प्रयोग हुआ है, क्या वह अंश वीतराग भगवान् महावीर की वाणी हो सकती है? क्या आज प्रश्नव्याकरणदशा, अन्तकृत्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा और विपाकदशा की विषयवस्तु वही है, जो स्थानांग में उल्लेखित है? तथ्य यह है कि यह सब परिवर्तन हुआ है, आज हम उससे इंकार नहीं कर सकते हैं।

आज ऐसे अनेक तथ्य हैं, जो वर्त्तमान आगमसाहित्य को अक्षरशः सर्वज्ञ के वचन मानने में बाधक हैं। परम्परा के अनुसार भी सर्वज्ञ तो अर्थ (विषयवस्तु) के प्रवक्ता हैं– शब्दरूप तो उनको गणधरों या परवर्ती स्थविरों द्वारा दिया गया है। क्या आज हमारे पास जो आगम हैं, वे ठीक वैसे ही हैं, जैसे शब्दरूप से गणधर गौतम ने उन्हें रचा था? आगम ग्रन्थों में परवर्तीकाल में जो विलोपन, परिवर्तन, परिवर्द्धन आदि हुआ और जिनका साक्ष्य स्वयं आगम ही दे रहे हैं, उससे क्या हम इन्कार कर सकते हैं?स्वयं देवर्धि ने इस तथ्य को स्वीकार किया है, तो फिर हम नकारने वाले कौन होते हैं। आदरणीय पारखजी

लिखते हैं--'पण्डितों से हमारा यही आग्रह रहेगा कि कृपया बिना भेल-सेल के वही पाठ प्रदान करें, जो तीर्थंकरों ने अर्थरूप में प्ररूपित और गणधरों ने सूत्ररूप में संकलित किया था। हमारे लिये वही शुद्ध है। सर्वज्ञों को जिस अक्षर, शब्द, पद, वाक्य या भाषा का प्रयोग अभिष्ट था, वह सूचित कर गये, अब उसमें असर्वज्ञ फेरबदल नहीं कर सकता।' उनके इस कथन के प्रति मेरा प्रथम प्रश्न तो यही है कि आज तक आगमों में जो परिवर्तन होता रहा, वह किसने किया? आज हमारे पास जो आगम हैं, उनमें एकरूपता क्यों नहीं है? आज मुर्शिदाबाद, हैदराबाद, मुम्बई, लाड़नूं आदि के संस्करणों में इतना अधिक पाठभेद क्यों है? इनमें से हम किस संस्करण को सर्वज्ञ वचन मानें और आपके शब्दों में किसे भेल-सेल कहें? मेरा दूसरा प्रश्न यह है कि क्या आज पण्डित आगमों में कोई भेल-सेल कर रहे हैं, या फिर वे उसके शुद्ध स्वरूप को सामने लाना चाहते हैं? किसी भी पाश्चात्य संशोधक दृष्टिसम्पन्न विद्वान् ने आगमों में कोई भेल-सेल किया? इसका एक भी उदाहरण हो, तो हमें बतायें। दुर्भाग्य यह है कि शुद्धि के प्रयत्न को भेल-सेल का नाम दिया जा रहा है और व्यर्थ में उसकी आलोचना की जा रही है। पुनः, जहाँ तक मेरी जानकारी है डॉ.चन्द्रा ने एक भी ऐसा पाठ नहीं सुझाया है, जो आदर्शसम्मत नहीं है। उन्होंने मात्र यही प्रयत्न किया है कि जो भी प्राचीन शब्दरूप किसी भी एक आदर्शप्रति में एक-दो स्थानों पर मिल गये, उन्हें आधार मानकर अन्य स्थलों पर भी वही प्राचीन रूप रखने का प्रयास किया है। यदि उन्हें भेल-सेल करना होता, तो वे इतने साहस के साथ पूज्य मुनिजनों एवं विद्वानों के विचार जानने के लिए उसे प्रसारित नहीं करते। फिर जब पारखजी स्वयं यह कहते हैं कि कुल 116 पाठभेदों में केवल 1 'आउसंतेण' को छोड़कर शेष 115 पाठभेद ऐसे हैं कि जिनसे अर्थ में कोई फर्क नहीं पड़ता, तो फिर उन्होंने ऐसा कौनसा अपराध कर दिया, जिससे उनके श्रम की मूल्यवत्ता को स्वीकार करने के स्थान पर उसे नकारा जा रहा है? आज यदि आचारांग के लगभग 40 से अधिक संस्करण हैं और यह भी सत्य है कि सभी ने आदर्शों के आधार पर ही पाठ छापे हैं, तो फिर किसे शुद्ध और किसे अशुद्ध कहें, क्या सभी को समान रूप से शुद्ध मान लिया जायेगा। क्या हम ब्यावर, जैन विश्वभारती, लाड़नूं और महावीर विद्यालय वाले संस्करणों को समान महत्व का समझें? भय भेल-सेल का नहीं है, भय यह है कि अधिक प्रामाणिक एवं शुद्ध संस्करण के निकल जाने से पूर्व संस्करणों की सम्पादन में रही कमियाँ उजागर हो जाने का और यही खोज का मूल कारण प्रतीत होता है। पुनः, क्या श्रद्धेय पारखजी यह बता

सकते हैं कि कोई भी ऐसी आदर्श प्रति है, जो पूर्णतः शुद्ध है-- जब आदर्शों में भिन्नता और अशुद्धियाँ हैं, तो उन्हें दूर करने के लिए व्याकरण के अतिरिक्त विद्वान किसका सहारा लेंगे? क्या आज तक कोई भी आगम ग्रन्थ बिना व्याकरण का सहारा लिए मात्र आदर्श के आधार पर छपा है। प्रत्येक सम्पादक व्याकरण का सहारा लेकर ही आदर्श की अशुद्धि को ठीक करता है। यदि वे स्वयं यह मानते हैं कि आदर्शों में अशुद्धियाँ स्वाभाविक हैं, तो फिर उन्हें शुद्ध किस आधार पर किया जायेगा? मैं भी मानता हूँ कि सम्पादन में आदर्श प्रति का आधार आवश्यक है, किन्तु न तो मात्र आदर्श से और न मात्र व्याकरण के नियमों से समाधान होता है, उसमें दोनों का सहयोग आवश्यक है। मात्र यही नहीं, अनेक प्रतों को सामने रखकर तुलना करके एवं विवेक से भी पाठ शुद्ध करना होता है, जैसा कि आचार्य श्री तुलसीजी ने मुनि जम्बूविजयजी को अपनी सम्पादन-शैली का स्पष्टीकरण करते हुए बताया था।

आदरणीय पारखजी एवं उनके द्वारा उद्धृत मुनिश्री जम्बूविजयजी का यह कथन कि आगमों में अनुनासिक परसवर्ण वाले पाठ प्रायः नहीं मिलते हैं, स्वयं ही यह बताता है कि क्वचित् तो मिलते हैं। पुनः, इस सम्बन्ध में डॉ. चन्द्रा ने आगमोदय समिति के संस्करण, टीका तथा चूर्णि के संस्करणों से प्रमाण भी दिये हैं। वस्तुतः, लेखन की सुविधा के कारण ही अनुनासिक परसवर्ण वाले पाठ आदर्शों में कम होते गये हैं, किन्तु लोकभाषा में वे आज भी जीवित हैं। अतः, चन्द्राजी के कार्य को प्रमाणरहित या आदर्शरहित कहना उचित नहीं है।

वर्त्तमान में उपलब्ध आगमों के संस्करणों में लाड़नूं और महावीर विद्यालय के संस्करण अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं, किन्तु उनमें भी 'त' श्रुति और 'य' श्रुति को लेकर या मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप सम्बन्धी जो वैविध्य हैं, वे न केवल आश्चर्यजनक हैं, अपितु विद्वानों के लिए चिन्तनीय भी हैं।

यहाँ महावीर विद्यालय से प्रकाशित स्थानांगसूत्र के ही एक दो उदाहरण आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ-

चत्तारि वत्था पन्नत्ता, तजहा-सुती नामं एगे सुती, सुई नामं एगे असुई, चउभंगो।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पन्नत्ता, तंजहा सुती णामं एगे सुती, चउभंगो।

(चतुर्थ स्थान, प्रथम उद्देशक, सूत्रक्रमांक 241, पृ.94)

इस प्रकार, आप यहाँ देखेंगे कि एक ही सूत्र में 'सुती' और 'सुई'-दोनों रूप उपस्थित हैं। इससे मात्र शब्द-रूप में ही भेद नहीं होता है, अर्थभेद भी हो सकता है, क्योंकि 'सुती' का अर्थ है- सूत से निर्मित, जबकि 'सुई' (शुचि) का अर्थ है -पवित्र। इस प्रकार, इसी सूत्र में 'णाम' और 'नाम' - दोनों शब्दरूप एक ही साथ उपस्थित हैं। इसी स्थानांगसूत्र से एक अन्य उदाहरण लीजिए-सूत्र क्रमांक 445, पृ.197 पर 'निर्ग्रन्थ' शब्द के लिए प्राकृत शब्दरूप 'नियंठ' प्रयुक्त है, तो सूत्र 446 में 'निग्गंथ' और पाठान्तर में 'नितंठ' रूप भी दिया गया है। इसी ग्रन्थ में सूत्र संख्या 458, पृ.197 पर धम्मत्थिकातं, अधम्मत्थकातं और आगासत्थिकायं-- इस प्रकार 'काय' शब्द के दो भिन्न शब्दरूप काय और कातं दिये गये हैं। यद्यपि 'त' श्रुति प्राचीन अर्धमागधी की पहचान है, किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में सुती, नितंठ और कातं में जो 'त' का प्रयोग है, वह मुझे परवर्ती लगता है। लगता है कि 'य' श्रुति को 'त' श्रुति में बदलने के प्रयत्न भी कालान्तर में हुए और इस प्रयत्न में बिना अर्थ का विचार किये 'य' को 'त' कर दिया गया है। शुचि का सुती, निर्ग्रन्थ का नितंठ और काय का कातं किस प्राकृत व्याकरण के नियम से बनेगा, मेरी जानकारी में तो नहीं है। इससे भी अधिक आश्चर्यजनक एक उदाहरण हमें हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित निर्युक्तिसंग्रह में ओघनिर्युक्ति के प्रारम्भिक मंगल में मिलता है--

नमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं, एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो। मंगलाणं च सव्वेसि, पढ़मं हवई मंगलं।।1।।

यहाँ हम देखते हैं कि जहाँ नमो अरिहंताणं से प्रारम्भ में 'न' रखा गया, जबकि णमो सिद्धाणं से लेकर शेष चार पदों में आदि का 'न', 'ण' कर दिया गया है, किन्तु 'एसो पंचनमुक्कारो' में पुनः 'न' उपस्थित है। हम आदरणीय पारिखजी से इस बात में सहमत हो सकते हैं कि भिन्न कालों में भिन्न व्यक्तियों से चर्चा करते हुए प्राकृत भाषा के भिन्न शब्द रूपों का प्रयोग हो सकता है, किन्तु ग्रन्थ निर्माण के समय और वह भी एक ही सूत्र या वाक्यांश में दो भिन्न रूपों का प्रयोग तो कभी भी नहीं होगा। पुनः, यदि हम यह मानते हैं कि आगम सर्वज्ञ वचन है, तो जब सामान्य व्यक्ति भी ऐसा नहीं करता है, फिर सर्वज्ञ कैसे करेगा? इस प्रकार की भिन्नरूपता के लिए लेखक नहीं, अपितु प्रतिलिपिकार ही

उत्तरदायी होता है, अतः ऐसे पाठों का शुद्धिकरण अनुचित नहीं कहा जा सकता। एक ही सूत्र में 'सुती' और 'सुई', 'नमो' और 'णमो', 'नियंठ' और 'निग्गंथ', 'कांत' और 'कायं'– ऐसे दो शब्द रूप नहीं हो सकते। उनका पाठ संशोधन आवश्यक है। यद्यपि इसमें भी यह सावधानी आवश्यक है कि 'त' श्रुति की प्राचीनता के व्यामोह में कहीं सर्वत्र 'य' का 'त' नहीं कर दिया जावे, जैसे शुचि–सुई का 'सुती', निग्गंथ का 'नितंठ' अथवा कायं का 'कातं' पाठ महावीर विद्यालय वाले संस्करण में है। हम पारखजी से इस बात में सहमत हैं कि कोई भी पाठ आदर्श में उपलब्ध हुए बिना नहीं बदला जाय, किन्तु 'आदर्श' में उपलब्ध होने का यह अर्थ नहीं है कि 'सर्वत्र' और सभी 'आदर्शों' में उपलब्ध हो। हाँ, यदि आदर्शों या आदर्श के अंश में प्राचीन पाठ मात्र एक–दो स्थलों पर ही मिले और उनका प्रतिशत 20 से भी कम हो, तो वहाँ उन्हें प्रायः न बदला जाय, किन्तु यदि उनका प्रतिशत 20 से अधिक हो, तो उन्हें बदला जा सकता है––शर्त यही हो कि आगम का वह अंश परवर्ती या प्रक्षिप्त न हो, जैसे–आचारांग का दूसरा श्रुतस्कन्ध या प्रश्नव्याकरण, किन्तु एक ही सूत्र में यदि इस प्रकार के भिन्न रूप आते हैं, तो एक स्थल पर भी प्राचीन रूप मिलने पर अन्यत्र उन्हें परिवर्तित किया जा सकता है।

पाठ शुद्धिकरण में दूसरी सावधानी यह आवश्यक है कि आगमों में कहीं–कहीं प्रक्षिप्त अंश हैं अथवा संग्रहणियों और निर्युक्तियों की अनेकों गाथाएं भी अवतरित की गयीं, ऐसे स्थलों पर पाठ–शुद्धिकरण करते समय प्राचीन रूपों की उपेक्षा करना होगा और आदर्श में उपलब्ध पाठ को परवर्ती होते हुए भी यथावत् रखना होगा।

इस तथ्य को हम इस प्रकार भी समझा सकते हैं कि यदि एक अध्ययन, उद्देशक या एक पैराग्राफ में यदि 70 या 80 प्रतिशत प्रयोग महाराष्ट्री या 'य' श्रुति के हैं और मात्र 10 प्रतिशत प्रयोग प्राचीन अर्धमागधी के हैं, तो वहां पाठ के महाराष्ट्री रूप को रखना ही उचित होगा। सम्भव है कि वह प्रक्षिप्त रूप हो, किन्तु इसके विपरीत उनमें 60 प्रतिशत प्राचीन रूप हैं और 40 प्रतिशत अर्वाचीन महाराष्ट्री के रूप हैं, तो वहाँ प्राचीन रूप रखे जा सकते हैं।

पुनः, आगम संपादन और पाठ शुद्धिकरण के इस उपक्रम में दिये जाने वाले मूलपाठ को शुद्ध एवं प्राचीन रूप में दिया जावे, किन्तु पाद–टिप्पणियों में सम्पूर्ण पाठान्तरों का संग्रह किया जाये। इसका लाभ यह होगा कि कालान्तर में यदि कोई

संशोधन कार्य करे, तो उसमें सुविधा हो।

अन्त में, मैं यह कहना चाहूँगा कि प्रो.के.आर.चन्द्रा अपनी अनेक सीमाओं के बावजूद भी जो यह अत्यन्त महत्वपूर्ण और श्रमसाध्य कार्य कर रहे हैं, उसकी मात्र आलोचना करना कदापि उचित नहीं है, क्योंकि वे जो कार्य कर रहे हैं, वह न केवल करणीय है बल्कि एक सही दिशा देने वाला कार्य है। हम उन्हें सुझाव तो दे सकते हैं, लेकिन अनधिकृत रूप से येन-केन-प्रकारेण सर्वज्ञ और शास्त्र-श्रद्धा की दुहाई देकर उनकी आलोचना करने का कोई अधिकार नहीं रखते। क्योंकि वे जो भी कार्य कर रहे हैं, वह बौद्धिक ईमानदारी के साथ, निर्लिप्त भाव से तथा सम्प्रदायगत आग्रहों से ऊपर उठकर कर रहे हैं, उनकी नियत में भी कोई शंका नहीं की जा सकती, अतः मैं जैन विद्या के विद्वानों से नम्र निवेदन करूँगा कि वे शान्तचित्त से उनके प्रयत्नों की मूल्यवत्ता को समझें और अपने सुझावों एवं सहयोग से उन्हें इस दिशा में प्रोत्साहित करें।

***

3 अर्धमागधी आगम साहित्य कुछ सत्य और तथ्य

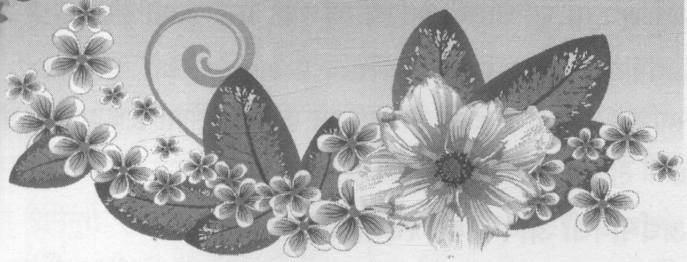

अर्धमागधी आगम प्राकृत साहित्य का प्राचीनतम रूप

भारत की तीन प्राचीन भाषाएँ हैं– संस्कृत, प्राकृत और पाली। उनमें प्राकृत भाषा में निबद्ध जो साहित्य उपलब्ध है, उसमें अर्धमागधी आगम साहित्य प्राचीनतम हैं। यहाँ तक कि आचाराङ्ग का प्रथम श्रुतस्कन्ध और ऋषिभाषित तो अशोककालीन प्राकृत अभिलेखों से भी प्राचीन हैं। ये दोनों ग्रन्थ लगभग ई.पू. पांचवी–चौथी शताब्दी की रचनाएँ हैं। आचाराङ्ग की सूत्रात्मक औपनिषदिक् शैली उसे उपनिषदों का निकटवर्ती और भगवान् महावीर की स्वयं की वाणी सिद्ध करती है। भाव, भाषा और शैली–तीनों के आधार पर यह सम्पूर्ण पाली और प्राकृत साहित्य में प्राचीनतम है। आत्मा के स्वरूप एवं अस्तित्व सम्बन्धी इसके विवरण औपनिषदिक विवरणों के अनुरूप हैं।[1] इसमें प्रतिपादित महावीर का जीवनवृत्त भी अलौकिकता और अतिशयता रहित है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि यह विवरण उस व्यक्ति द्वारा लिखा गया है, जिसने स्वयं उनकी जीवनचर्या को निकटता से देखा और जाना है। अर्धमागधी आगमसाहित्य में भी सूत्रकृताङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठवें अध्याय, आचाराङ्गचूला और कल्पसूत्र में भी महावीर की जीवनचर्या का उल्लेख है, किन्तु वह भी अपेक्षाकृत रूप में आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा परवर्ती है, क्योंकि उनमें क्रमशः अलौकिकता, अतिशयता और अतिरंजना का प्रवेश होता गया है। इसी प्रकार ऋषिभाषित की साम्प्रदायिक अभिनिवेश से रहित उदारदृष्टि तथा भाव और

भाषागत अनेक तथ्य उसे आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर सम्पूर्ण प्राकृत एवं पाली साहित्य में प्राचीनतम सिद्ध करते हैं। पाली साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात माना जाता है, किन्तु अनेक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि ऋषिभाषित, सुत्तनिपात से भी प्राचीन है।[3] अर्धमागधी आगमों की प्रथम वाचना स्थूलभद्र के समय अर्थात् ईसा पूर्व तीसरी शती में हुई थी, अतः इतना निश्चित है कि उस समय तक अर्धमागधी आगम साहित्य अस्तित्व में आ चुका था।[4] इस प्रकार, अर्धमागधी आगम साहित्य के कुछ ग्रन्थों के रचनाकाल की उत्तरसीमा ई.पू.पांचवी–चौथी शताब्दी सिद्ध होती है, जो कि इस साहित्य की प्राचीनता को प्रमाणित करती है।

अर्धमागधी आगमों का रचनाकाल

हमें यह स्मरण में रखना होगा कि सम्पूर्ण अर्धमागधी आगम साहित्य न तो एक व्यक्ति की रचना है और न एक काल की। यह सत्य है कि इस साहित्य को अन्तिम रूप वीरनिर्वाण सम्वत् 980 में वलभी में सम्पन्न हुई वाचना में प्राप्त हुआ। इस आधार पर हमारे कुछ विद्वान् मित्र सहज निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि अर्धमागधी आगम साहित्य ईस्वी सन् की पांचवी शताब्दी की रचना है। यदि अर्धमागधी आगम ईसा की पांचवी–छठवीं शती की रचना है, तो वलभी की इस वाचना के पूर्व भी वलभी, मथुरा, खण्डगिरि और पाटलीपुत्र में जो वाचनायें हुई थीं, उनमें संकलित साहित्य कौनसा था? उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि वलभी में मुख्यतः आगमों को संकलित, सुव्यवस्थित और सम्पादित करके लिपिबद्ध (पुस्तकारूढ़) किया गया था, अतः यह किसी भी स्थिति में उनका रचनाकाल नहीं माना जा सकता है। संकलन और संपादन का अर्थ रचना नहीं है। पुनः, आगमों में विषयवस्तु, भाषा और शैली की जो विविधता और भिन्नता परिलक्षित होती है, वह स्पष्टतया इस तथ्य का प्रमाण है कि संकलन और सम्पादन के समय उनकी मौलिकता को यथावत् रखने का प्रयत्न किया गया है, अन्यथा आज उनके प्राचीन स्वरूप समाप्त ही हो जाते और आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा और शैली भी परिवर्तित हो जाती तथा उसके उपधानश्रुत नामक नौवें अध्याय में वर्णित महावीर का जीवनवृत्त अलौकिकता एवं अतिशयों से युक्त बन जाता। यद्यपि यह सत्य है कि आगमों की विषयवस्तु में कुछ अंश प्रक्षिप्त हुए हैं, किन्तु प्रथम तो ऐसे प्रक्षेप बहुत कम हैं और दूसरे उन्हें स्पष्टरूप से पहचाना भी जा सकता है। अतः, इस आधार पर सम्पूर्ण अर्धमागधी

आगम साहित्य को परवर्ती मान लेना सबसे बड़ी भ्रान्ति होगी।

अर्धमागधी आगम साहित्य पर कभी-कभी महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव को देखकर भी उसकी प्राचीनता पर संदेह किया जाता है. किन्तु प्राचीन हस्तप्रतों के आधार पर पाठों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि अनेक प्राचीन हस्तप्रतों में आज भी उनका अर्धमागधी का 'त' प्रधान स्वरूप सुरक्षित है। आचाराङ्ग के प्रकाशित संस्करणों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें अनेक पाठान्तर हैं। इस साहित्य पर जो महाराष्ट्री प्रभाव आ गया है, वह लिपिकारों और टीकाकारों की अपनी भाषा के प्रभाव के कारण है।[5] उदाहरण के रूप में सूत्रकृतांग का 'रामपुत्ते' पाठ चूर्णि में 'रामाउत्ते' और शीलांक की टीका में 'रामगुत्ते' हो गया।[6] अतः, अर्थमागधी आगमों में महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव को देखकर उनकी प्राचीनता पर संदेह नहीं करना चाहिए, अपितु उन ग्रन्थों की विभिन्न प्रतों एवं निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं के आधार पर पाठों के प्राचीन स्वरूपों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिए। वस्तुतः, अर्धमागधी आगम साहित्य में विभिन्न काल की सामग्री सुरक्षित है। इसकी उत्तर सीमा ई.पू. पांचवीं-चौथी शताब्दी और निम्न सीमा ई. सन् की पांचवीं शताब्दी है, किन्तु अर्धमागधी आगम साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों और उनके किसी अंश-विशेष का काल निर्धारित करते समय उनमें उपलब्ध सांस्कृतिक सामग्री, दार्शनिक चिन्तन की स्पष्टता एवं गहनता तथा भाषा शैली आदि सभी पक्षों पर प्रामाणिकता के साथ विचार करना चाहिए। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर ही यह स्पष्ट बोध हो सकेगा कि अर्धमागधी आगम साहित्य का कौनसा ग्रन्थ अथवा उसका अंश-विशेष किस काल की रचना है।

अर्धमागधी आगमों की विषयवस्तु सम्बन्धी निर्देश श्वेताम्बर परम्परा में हमें स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र, नन्दीचूर्णी एवं तत्त्वार्थभाष्य में तथा दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ की टीकाओं, धवला और जयधवला में मिलते हैं।[7] उसमें भी तत्त्वार्थ की दिगम्बर परम्परा की टीकाओं और धवलादि में उनकी विषयवस्तु सम्बन्धी मात्र अनुश्रुतिपूरक निर्देश हैं, वे ग्रन्थों के वास्तविक अध्ययन पर आधारित नहीं हैं। उनमें दिया गया विवरण-तत्त्वार्थभाष्य के आधार पर परम्परा से प्राप्त सूचनाओं पर आधारित है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध उनके जो विवरण स्थानांग, समवायांग, नन्दी आदि अर्धमागधी आगमों और उनकी व्याख्याओं एवं टीकाओं में हैं, वे ग्रन्थों के अवलोकन पर आधारित

हैं, अतः आगम ग्रन्थों की विषयवस्तु में कालक्रम में क्या परिवर्तन हुआ है, इसकी सूचना श्वेताम्बर परम्परा के उपर्युक्त ग्रन्थों से प्राप्त हो जाती है। इनके अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस काल में किस आगम ग्रन्थ में कौनसी सामग्री जुड़ी और अलग हुई है। आचाराङ्ग में आयारचूला और निशीथ के जुड़ने, पुनः निशीथ के अलग होने की घटना समवायांग और स्थानांग में समय-समय पर हुए प्रक्षेप, ज्ञाता के द्वितीय वर्ग में जुड़े अध्याय; प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु में हुआ सम्पूर्ण परिवर्तन;अन्तकृत्दशा, अनुत्तरौपपातिक एवं विपाक के अध्ययनों में हुए आंशिक परिवर्तन-इन सबकी प्रामाणिक जानकारी हमें इनके समीक्षात्मक अध्ययन से मिल जाती है।[8] इसमें प्रश्नव्याकरण लगभग ईस्वी सन् की छठवीं शताब्दी में अस्तित्व में आया है। इस प्रकार, अर्धमागधी आगम साहित्य लगभग एक सहस्त्र वर्ष की सुदीर्घ अवधि में किस प्रकार निर्मित, परिवर्द्धित, परिवर्तित एवं सम्पादित होता रहा है, इसकी सूचना भी स्वयं अर्धमागधी आगम साहित्य और उसकी टीकाओं से मिल जाती है। अतः, आगम विशेष या उसके अंशविशेष के रचनाकाल का निर्धारण एक जटिल समस्या है, इस सम्बन्ध में विषयवस्तु, विचारों का विकासक्रम, भाषा-शैली आदि अनेक दृष्टियों से निर्णय करना होता है। उदाहरण के रूप में, स्थानांग में सात निह्नवों और नौ गणों का उल्लेख मिलता है, जो कि वीर निर्वाण सं.584 तक अस्तित्व में आ चुके थे, किन्तु उसमें बोटिकों एवं उन परवर्ती गणों, कुलों और शाखाओं के उल्लेख नहीं हैं, जो वीर निर्वाण सं.609 अथवा उसके बाद अस्तित्व में आये, अतः विषयवस्तु की दृष्टि से स्थानांग के रचनाकाल की अन्तिम सीमा वीर निर्वाण सम्वत् 609 के पूर्व अर्थात् ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्द्ध या द्वितीय शताब्दी सिद्ध होता है। इसी प्रकार, आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा-शैली आचाराङ्ग के रचनाकाल को अर्धमागधी आगम साहित्य में सबसे प्राचीन सिद्ध करती है। इस प्रकार, न तो हमारे कुछ दिगम्बर विद्वानों की यह दृष्टि समुचित है कि अर्धमागधी आगम देवर्द्धिगण की वाचना के समय अर्थात् ईसा की पांचवी शताब्दी में आये और न कुछ श्वेताम्बर आचार्यों का यह कहना ही समुचित है कि सभी अंग आगम गणधरों की रचना हैं, किन्तु इतना निश्चित है कि कुछ प्रक्षेपों को छोड़कर अर्धमागधी आगम साहित्य शौरसेनी आगम साहित्य से प्राचीन है। शौरसेनी आगम का प्राचीनतम ग्रन्थ कसायपाहुड भी ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी से प्राचीन नहीं है। अतः, प्राकृत आगम साहित्य में अर्धमागधी आगम ही

प्राचीनतम है।

अर्धमागधी आगमों की विषय वस्तु सरल है

अर्धमागधी आगम साहित्य की विषयवस्तु मुख्यतः उपदेशपरक, आचारपरक एवं कथापरक है। भगवती के कुछ अंश, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार, जो कि अपेक्षाकृत परवर्ती हैं, उनको छोड़कर उनमें प्रायः गहन दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चाओं का अभाव है। विषय प्रतिपादन सरल, सहज और सामान्य व्यक्ति के लिए भी बोधगम्य है। वह मुख्यतः विवरणात्मक एवं उपदेशात्मक है। इसके विपरीत, शौरसेनी आगमों में आराधना और मूलाचार को छोड़कर लगभग सभी ग्रन्थ दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चा से युक्त हैं। वे परिपक्व दार्शनिक विचारों के परिचायक हैं। गुणस्थान और कर्मसिद्धान्त की वे गहराइयाँ, जो शौरसेनी आगमों में उपलब्ध हैं, अर्धमागधी आगमों में उनका प्रायः अभाव ही है। कुन्दकुन्द के समयसार के समान सैद्धान्तिक दृष्टि से आध्यात्मवाद के प्रतिस्थापन का भी उनमें कोई प्रयास परिलक्षित नहीं होता, यद्यपि ये सब उनकी कमी भी कही जा सकती है, किन्तु चिन्तन के विकासक्रम की दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट रूप से यह फलित होता है कि अर्धमागधी आगम साहित्य प्राथमिक स्तर के होने से प्राचीन भी हैं और साथ ही विकसित शौरसेनी आगमों के आधारभूत भी। समवायांग में जीवस्थानों के नाम से 14 गुणस्थानों का मात्र निर्देश है, जबकि षट्खण्डागम जैसा प्राचीन शौरसेनी आगम भी उनकी गम्भीरता से चर्चा करता है। मूलाचार, भगवती आराधना, कुन्दकुन्द के ग्रन्थ और गोम्मटसार आदि सभी में गुणस्थानों की विस्तृत चर्चा है, चूंकि तत्त्वार्थ के बाद की कृतियाँ मानी जा सकती हैं। इसी प्रकार, कषायपाहुड, षट्खण्डागम, गोम्मटसार आदि शौरसेनी आगम ग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त की जो गहन चर्चा है, वह भी अर्धमागधी आगम साहित्य में अनुपलब्ध है। अतः, अर्धमागधी आगमों की सरल, बोधगम्य एवं प्राथमिक स्तर की विवरणात्मक शैली उनकी विशेषता एवं प्राचीनता की सूचक है।

तथ्यों का सहज संकलन

अर्धमागधी आगमों में तथ्यों का सहज संकलन किया गया है, अतः अनेक स्थानों पर सैद्धान्तिक दृष्टि से उनमें विसंगतियाँ पायी जाती हैं। वस्तुतः, ये ग्रन्थ अकृत्रिम भाव से रचे गये हैं और उन्हें युक्तिसंगत बनाने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। एक ओर उनमें अहिंसा की सूक्ष्मता के साथ पालन के निर्देश हैं, तो दूसरी ओर ऐसे अनेक निर्देश भी हैं,

जो इस सूक्ष्म अहिंसक कार्यशैली के विपरीत हैं। इस प्रकार, एक ओर उनमें न केवल मुनि की अचेलता का प्रतिपादन है, अपितु उसका समर्थन भी किया गया है, वहीं दूसरी ओर वस्त्र, पात्र के साथ-साथ मुनि के उपकरणों की लंबी सूची भी मिल जाती है। एक ओर केशलोच का विधान है, तो दूसरी क्षुर-मुण्डन की अनुज्ञा भी है। उत्तराध्ययन में वेदनीय के भेदों में क्रोध वेदनीय आदि का उल्लेख है, जो कि कर्मसिद्धान्त के ग्रन्थों में, यहाँ तक कि स्वयं उत्तराध्ययन के कर्मप्रकृति नामक अध्ययन में भी अनुपलब्ध है, उक्त साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्धमागधी आगम साहित्य जैन संघ का निष्पक्ष इतिहास प्रस्तुत करता है। वस्तुतः, तथ्यों का यथार्थ रूप में प्रस्तुतिकरण अर्धमागधी आगम साहित्य की विशेषता है। वस्तुतः, तथ्यात्मक विविधताओं एवं अन्तर्विरोधों के कारण अर्धमागधी आगम साहित्य के ग्रन्थों का कालक्रम-निर्धारण सहज हो जाता है।

अर्धमागधी आगमों में जैनसंघ के इतिहास का प्रामाणिक रूप

यदि हम अर्धमागधी आगमों का समीक्षात्मक दृष्टि से अध्ययन करें, तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा के आचार एवं विचार में कालक्रम में कुछ परिवर्तन हुए। दार्शनिक चिन्तन और आचार-नियमों में कालक्रम में हुए परिवर्तनों को जानने का आधार अर्धमागधी आगम ही हैं, क्योंकि इन परिवर्तनों को समझने के लिए उनमें तथ्यों के क्रम को खोजा जा सकता है। उदाहरण के रूप में, जैन धर्म में साम्प्रदायिक अभिनिवेश कैसे दृढ़मूल होता गया इसकी जानकारी ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, सूत्रकृताङ्ग और भगवती के पन्द्रहवें शतक के समीक्षात्मक अध्ययन से मिल जाती है। ऋषिभाषित में नारद, मंखलीगोशाल, असितदेवल, तारायण, याज्ञवल्क्य, बाहुत आदि अन्य परम्परा के ऋषियों को अर्हत् ऋषि कहकर सम्मानित किया गया। उत्तराध्ययन में भी कपिल, नमि, करकण्डु, नग्गति, गर्दभाली, संजय आदि का सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया और सूत्रकृतांग में इनमें से कुछ को परम्परा-सम्मत माना गया, यद्यपि जैन परम्परा से उनके आचारभेद को भी दर्शाया गया; वहीं ज्ञाताधर्मकथा में नारद की और भगवती के पन्द्रहवें शतक में मंखलीगोशाल की कटु आलोचना भी की गई। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि अर्धमागधी आगम साहित्य में जैन परम्परा में अन्य परम्पराओं के प्रति उदारता का भाव कैसे कम होता गया और साम्प्रदायिक अभिनिवेश कैसे दृढ़मूल होते गये इसका यथार्थ चित्रण उपलब्ध होता है। आचारांग- प्रथम श्रुतस्कन्ध, आचारचूला,

दशवैकालिक, निशीथ आदि छेदसूत्र तथा उनके भाष्य और चूर्णियों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जैनाचार में कालक्रम में क्या-क्या परिवर्तन हुआ। इसी प्रकार, ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, भगवती, ज्ञाता आदि के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि पार्श्वपत्यों का महावीर के संघ पर क्या प्रभाव पड़ा और दोनों के बीच किस प्रकार सम्बन्धों में परिवर्तन होता गया। इसी प्रकार के अनेक प्रश्न, जिनके कारण जैन समाज साम्प्रदायिक कठघरों में बन्द है, अर्धमागधी आगमों के निष्पक्ष अध्ययन के माध्यम से सुलझाये जा सकते हैं।

अर्धमागधी आगम, शौरसेनी आगम और परवर्ती महाराष्ट्री व्याख्या साहित्य के आधार

अर्धमागधी आगम शौरसेनी आगम और महाराष्ट्री व्याख्या साहित्य के आधार रहे हैं, क्योंकि वे जैन धर्म एवं दर्शन के प्राचीनतम स्रोत हैं। यद्यपि शौरसेनी आगम और व्याख्या साहित्य में चिन्तन के विकास के साथ-साथ देश-काल और सहगामी परम्पराओं के प्रभाव से बहुत कुछ ऐसी भी सामग्री है, जो उनकी अपनी मौलिक कही जा सकती है, फिर भी उनके अनेक ग्रन्थों के मूलस्रोत के रूप में अर्धमागधी आगमों को स्वीकार किया जा सकता है। मात्र मूलाचार की ही तीन सौ से अधिक गाथाएं उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यकनिर्युक्ति, जीवसमास, आतुरप्रत्याख्यान, चन्द्रवेध्यक (चन्दावेज्झय) आदि में उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार, भगवती आराधना की अनेक गाथाएँ अर्धमागधी आगम और विशेष रूप से प्रकीर्णकों (पइन्ना) में मिलती हैं। षट्खण्डागम और प्रज्ञापना में भी जो समानताएँ परिलक्षित होती हैं, उनकी विस्तृत चर्चा पण्डित दलसुख मालवणिया ने (प्रो.ए.एन.उपाध्ये व्याख्यानमाला में) की है। नियमसार की कुछ गाथाएँ अनुयोगद्वार एवं इतर आगमों में भी पाई जाती हैं, जबकि समयसार आदि कुछ ऐसे शौरसेनी आगम ग्रन्थ भी हैं, जिनकी मौलिक रचना का श्रेय उनके कर्त्ताओं को ही है। तिलोयपन्नति का प्राथमिक रूप विशेष रूप से आवश्यकनिर्युक्ति तथा कुछ प्रकीर्णकों के आधार पर तैयार हुआ, यद्यपि बाद में उसमें पर्याप्त रूप से परिवर्तन और परिवर्द्धन हुआ है। इस प्रकार, शौरसेनी आगमों के निष्पक्ष अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि उनका मूल आधार अर्धमागधी आगम साहित्य ही रहा है, तथापि उनमें जो सैद्धान्तिक गहराइयाँ और विकास परिलक्षित होते हैं, वे उनके रचनाकारों की मौलिक देन है।

अर्धमागधी आगमों का कर्त्तत्व अज्ञात

अर्धमागधी आगमों में प्रज्ञापना, दशवैकालिक और छेदसूत्रों के कर्त्तृत्व छोड़कर शेष के रचनाकारों के सम्बन्ध में हमें कोई स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती है, यद्यपि दशवैकालिक आर्य शयम्भवसूरि की, छेदसूत्र आर्य भद्रबाहु की और प्रज्ञापना श्यामाचार्य (आज्ञकण्ह) की कृति मानी जाती हैं। महानिशीथ का उसकी दीमकों से भक्षित प्रति के आधार पर आचार्य हरिभद्र ने समुद्धार किया था, यह स्वयं उसी में उल्लेखित है, जबकि अन्य आगमों के कर्त्ताओं के बारे में हम अन्धकार में ही हैं। सम्भवतः, उसका मूल कारण यह रहा होगा कि सामान्यजन में इस बात का पूर्ण विश्वास बना रहे कि अर्धमागधी आगम गणधर अथवा पूर्वधरों की कृति हैं। इसलिये कर्त्ताओं ने अपने नाम का उल्लेख नहीं किया। यह वैसी ही स्थिति है, जैसी हिन्दू पुराणों के कर्त्ता के रूप में केवल वेदव्यास को जाना जाता है, यद्यपि वे अनेक आचार्यों की और पर्यापतपरवर्तीकाल की रचनाएँ हैं। इसके विपरीत, शौरसेनी आगमों की मुख्य विशेषता यह है कि उनमें प्रायः सभी ग्रन्थों का कर्त्तृत्व सुनिश्चित है। यद्यपि उनमें भी कुछ परिवर्तन और प्रक्षेप परवर्ती आचार्य ने किये हैं, फिर भी इस सम्बन्ध में उनकी स्थिति अर्धमागधी आगमों की अपेक्षा काफी स्पष्ट है। अर्धमागधी आगमों में तो यहाँ तक भी हुआ है कि कुछ विलुप्त कृतियों के स्थान पर पर्याप्त परवर्ती काल में दूसरी कृति ही रख दी गई, इस सम्बन्ध में प्रश्नव्याकरण की सम्पूर्ण विषयवस्तु के परिवर्तन की पूर्व में ही चर्चा की जा चुकी है। अभी-अभी अंगचूलिया और बंगचूलिया नामक दो विलुप्त आगम ग्रन्थ प्राप्त हुए, जो भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर में उपलब्ध हैं, किन्तु जब उनका अध्ययन किया गया, तो पता चला कि वे लोकाशाह के पश्चात् अर्थात् सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी में किसी अज्ञात आचार्य ने बनाकर रख दिये हैं। यद्यपि इससे यह निष्कर्ष भी नहीं निकाल लेना चाहिए कि यह स्थिति सभी अर्धमागधी आगमों की है, क्योंकि अर्धमागधी आगमों की यह विशेषता है कि उनके प्रक्षेपों और परिवर्तनों को आसानी से पहचाना जा सकता है, जबकि शौरसेनी आगमों में हुए प्रक्षेपों को जानना जटिल है।

अर्धमागधी आगमों के वर्गीकरण का प्रश्न

यद्यपि आज अर्धमागधी आगमों को अंग, उपांग, मूल, छेद, चूलिकासूत्र और प्रकीर्णक के रूप में वर्गीकृत किया जाता है, किन्तु यह वर्गीकरण पर्याप्त परवर्ती है।

प्राचीनतम उल्लेख तो अंग और अंगबाह्य के रूप में ही मिलते हैं, इनमें भी 12 अंगों का तो स्पष्ट उल्लेख है, किन्तु अंगबाह्य की संख्या का स्पष्ट निर्देश कहीं नहीं है। पुनः, नन्दी और तत्त्वार्थभाष्य में अंगबाह्य का आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त तथा कालिक एवं उत्कालिक के रूप में तो वर्गीकरण मिलता है, किन्तु उपांग, मूल, छेद आदि के रूप में नहीं मिलता है। अंगबाह्य आगमों की विस्तृत सूची भी नन्दी और तत्त्वार्थभाष्य में मिलती है, उससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि न केवल दृष्टिवाद और पूर्व साहित्य के ग्रन्थों का लोप हुआ है, किन्तु अनेक अर्धमागधी अंगबाह्य ग्रन्थों का भी लोप हो चुका है। यद्यपि इस लोप का यह अर्थ भी नहीं है कि उनकी विषयवस्तु पूर्णतः नष्ट हो गई,अपितु इतना ही है कि उसकी विषयवस्तु अन्यत्र किसी ग्रन्थ में सुरक्षित हो जाने से उस ग्रन्थ का रूप समाप्त हो गया।

आगमां की विषयवस्तु के सम्बन्ध में जिस अतिशयता की चर्चा परवर्ती आचार्यों ने की है, वह अतिरंजनापूर्ण है। उनकी विषयवस्तु के आकार के सम्बन्ध में आगमों और परवर्ती ग्रन्थों में जो सूचनाएँ हैं, वे उनकी विश्वसनीयता पर प्रश्नचिह्न उपस्थित करती हैं। हमारी श्रद्धा और विश्वास चाहे कुछ भी हों, किन्तु तर्क, बुद्धि और गवेषणात्मक दृष्टि से तो ऐसा प्रतीत होता है कि आगम साहित्य की विषयवस्तु में क्रमशः विकास ही होता रहा है। यह कहना कि आचारांग के आगे प्रत्येक अंग-ग्रन्थ की श्लोक संख्या एक दूसरे से क्रमशः द्विगुणित थी अथवा 14वें पूर्व की विषयवस्तु इतनी थी कि उसे चौदह हाथियों के बराबर स्याही से लिखा जा सकता था, विश्वास की वस्तु हो सकती है, बुद्धिगम्य नहीं।

अन्त में, विद्वानों से मेरी यह अपेक्षा है कि वे आगमों और विशेष रूप से अर्धमागधी आगमों का अध्ययन श्वेताम्बर, दिगम्बर, मूर्तिपूजक, स्थानकवासी या तेरापंथी दृष्टि से न करें, अपितु इन साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से ऊपर उठकर करें, तभी हम उनके माध्यम से जैनधर्म के प्राचीन स्वरूप का यथादर्शन कर सकेंगे और प्रामाणिक रूप से यह भी समझ सकेंगे कि कालक्रम में उनमें कैसे और क्या परिवर्तन हुए हैं। आज आवश्यकता है पं. बेचरदासजी जैसे निष्पक्ष एवं तटस्थ बुद्धि से उनके अध्ययन की, अन्यथा दिगम्बरों को उसमें वस्त्रसम्बन्धी उल्लेख प्रक्षेप लगेंगे, तो श्वेताम्बर सारे वस्त्र-पात्र के उल्लेख महावीरकालीन मानने लगेंगे और दोनों ही यह नहीं समझ सकेंगे कि वस्त्र-पात्र का क्रमिक विकास किन परिस्थितियों में और कैसे हुआ है। यही स्थिति अन्य प्रकार के साम्प्रदायिक

अभिनिवेश से युक्त अध्ययन की भी होगी। पुनः, शौरसेनी, और अर्धमागधी आगमों का तुलनात्मक अध्ययन भी उनमें निहित सत्य को यथार्थ रूप से आलोकित कर सकेगा। आशा है, युवा विद्वान् मेरी इस प्रार्थना पर ध्यान देंगे।

सन्दर्भ :

1. प्रो.सागरमल जैन, 'अर्धमागधी आगमसाहित्यः एक विमर्श', प्रो.सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, वाराणसी 1998 ई., द्वितीय खण्ड, पृष्ठ 7.
2. देखें–आचाराङ्ग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्ययन 9, उपधान श्रुत.
3. देखें–ऋषिभाषितः एक अध्ययन डॉ.सागरमल जैन, पृ.4–9.
4. आवश्यकचूर्णि, भाग 2, पृ.187.
5. देखें–(अ) श्रमण, वर्ष 41, अंक 10, 12 अक्टूबर–दिसम्बर 98 डॉ.के.आर.चन्द्रा– क्षेत्रज्ञ शब्द के विविध प्राकृत रूपों की कथा और उसका अर्धमागधी रूपान्तर, पृ.49–56.

   (ब) के.आर.चन्द्रा, 'आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में स्वीकृत कुछ पात्रों की समीक्षा', पं. बेचरदास दोशी स्मृति ग्रन्थ, वाराणसी। 1990 ई., हिन्दी खण्ड, पृष्ठ 1–7.
6. प्रो.सागरमल जैन एवं प्रो.एम.ए.ढांकी, 'रामपुत्त या रामगुप्तः सूत्रकृताङ्ग के संदर्भ में' , पं. बेचरदास दोशी स्मृतिग्रन्थ, पृ.8–11.
7. () स्थानांग, () समवायांग, ( ) नन्दी, () नन्दीचूर्णि, () तत्त्वार्थभाष्य, () सर्वार्थसिद्धि, () धवला, () जयधवला.
8. प्रो. सागरमल जैन, 'अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु', पं. दलसुखभाई मालवणिया अभिनन्दन ग्रन्थ, वाराणसी, 1991 ई.; हिन्दी खण्ड, पृष्ठ 12–18.

***

4 जैन आगमों की मूल भाषाः अर्धमागधी या शौरसेनी?

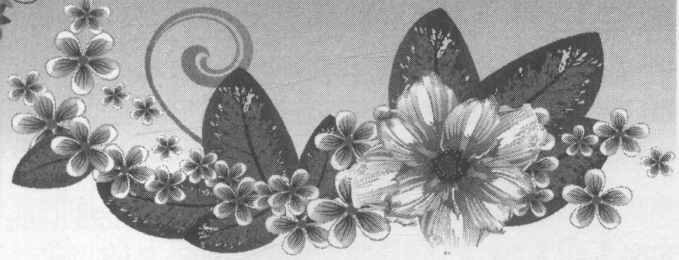

वर्त्तमान में 'प्राकृत विद्या ' नामक शोध-पत्रिका के माध्यम से जैन विद्या के विद्वानों का एक वर्ग आग्रहपूर्वक यह प्रतिपादन कर रहा है कि 'जैन आगमों की मूल भाषा शौरसेनी प्राकृत थी, जिसे कालान्तर में परिवर्तित करके अर्धमागधी बना दी गई।' इस वर्ग का यह भी दावा है कि शौरसेनी प्राकृत ही प्राचीनतम प्राकृत है और अन्य सभी प्राकृतें, यथा- मागधी, पैशाची, महाराष्ट्री आदि इसी से विकसित हुई हैं, अतः ये सभी शौरसेनी प्राकृत से परवर्ती भी हैं। इसी क्रम में दिगम्बर-परम्परा में आगमों के रूप में मान्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में निहित अर्धमागधी और महाराष्ट्री शब्दरूपों को परिवर्तित कर उन्हें शौरसेनी में रूपान्तरित करने का एक सुनियोजित प्रयत्न भी किया जा रहा है। इस समस्त प्रचार-प्रसार के पीछे मूलभूत उद्देश्य यह है कि श्वेताम्बर मान्य आगमों को दिगम्बर-परम्परा में मान्य आगमतुल्य ग्रन्थों से अर्वाचीन और अपने शौरसेनी से निबद्ध आगमतुल्य ग्रन्थों को प्राचीन सिद्ध किया जाये। इस पारस्परिक विवाद का एक परिणाम यह भी हो रहा है कि श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के बीच कटुता की खाई गहरी होती जा रही है और इन सब में एक निष्पक्ष भाषाशास्त्रीय अध्ययन को पीछे छोड़ दिया जा रहा है। प्रस्तुत निबन्ध में मैं इन सभी प्रश्नों पर श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्परा में आगमरूप में मान्य ग्रन्थों के आलोक में चर्चा करने का प्रयत्न करूँगा।

क्या आगम साहित्य मूलतः शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था?

यहाँ सर्वप्रथम मैं इस प्रश्न की चर्चा करना चाहूँगा कि क्या जैन आगम साहित्य

मूलतः शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था और उसे बाद में परिवर्तित करके अर्धमागधी रूप दिया गया? जैन विद्या के कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि जैन आगम साहित्य मूलतः शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध हुआ था और उसे बाद में अर्धमागधी में रूपान्तरित किया गया। अपने इस कथन के पक्ष में वे श्वेताम्बर-दिगम्बर किन्हीं भी आगमों का प्रमाण न देकर प्रो. टाँटिया के व्याख्यान के कुछ अंश उद्धृत करते हैं। डॉ. सुदीप जैन ने 'प्राकृत विद्या' जनवरी-मार्च, 1996 के सम्पादकीय में उनके कथन को निम्न रूप में प्रस्तुत किया है-

हाल ही में श्री लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ में सम्पन्न द्वितीय आचार्य कुन्दकुन्द स्मृति व्याख्यानमाला में विश्वविश्रुत भाषाशास्त्री एवं दार्शनिक विचारक प्रो. नथमलजी टाँटिया ने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि 'श्रमण साहित्य का प्राचीन रूप, चाहे वे बौद्धों के त्रिपिटक आदि हों, श्वेताम्बरों के 'आचाराङ्गसूत्र', 'दशवैकालिकसूत्र' आदि हों, अथवा दिगम्बरों के 'षट्खण्डागमसूत्र', 'समयसार' आदि हों, सभी शौरसेनी प्राकृत में ही निबद्ध थे। उन्होंने आगे सप्रमाण स्पष्ट किया कि बौद्धों ने बाद में श्रीलंका में एक वृहत्संगीति में योजनापूर्वक शौरसेनी में निबद्ध बौद्ध साहित्य का मागधीकरण किया और प्राचीन शौरसेनी में निबद्ध बौद्ध साहित्य के ग्रन्थों को अग्निसात कर दिया। इसी प्रकार, श्वेताम्बर जैन साहित्य का भी प्राचीन रूप शौरसेनी प्राकृत में ही था, जिसका रूप क्रमशः अर्धमागधी में बदल गया। यदि हम वर्त्तमान अर्धमागधी आगम साहित्य को ही मूल श्वेताम्बर आगम साहित्य मानने पर जोर देंगे, तो इस अर्धमागधी भाषा का आज से पन्द्रह सौ वर्ष पहले अस्तित्व ही नहीं होने से इन स्थिति में हमें अपने आगम साहित्य को भी 500 ई. से परवर्ती मानना पड़ेगा।'

उन्होंने स्पष्ट किया कि 'आज भी 'आचाराङ्गसूत्र' आदि की प्राचीन प्रतियों में शौरसेनी के शब्दों की प्रचुरता मिलती है, जबकि नये संस्करणों में उन शब्दों का अर्धमागधीकरण हो गया है। उन्होंने कहा कि पक्षव्यामोह के कारण ऐसे परिवर्तनों से हम अपने साहित्य का प्राचीन मूल रूप खो रहे हैं।' उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'दिगम्बर जैन साहित्य में ही शौरसेनी भाषा के प्राचीन रूप सुरक्षित एवं उपलब्ध हैं।'

निस्सन्देह, प्रो. टाँटिया जैन और बौद्ध विद्याओं के वरिष्ठतम विद्वानों में से एक रहे हैं और उनके कथन का कोई अर्थ और आधार भी होगा; किन्तु ये कथन उनके अपने हैं या उन्हें अपने पक्ष की पुष्टि हेतु तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया गया है, यह एक विवादास्पद

प्रश्न है? क्योंकि एक ओर तुलसीप्रज्ञा के सम्पादक का कहना है कि टाँटियाजी ने इसका खण्डन किया है। वे तुलसीप्रज्ञा (अप्रैल–जून, 1993, खण्ड 19, अंक 1) में लिखते हैं कि 'डॉ.नथमल टाँटिया ने दिल्ली की एक पत्रिका में छपे और उनके नाम से प्रचारित इस कथन का खण्डन किया है कि महावीरवाणी शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध हुई। उन्होंने स्पष्ट मत प्रकट किया कि आचाराङ्ग, उत्तराध्ययन, सूत्रकृताङ्ग और दशवैकालिक में अर्धमागधी भाषा का उत्कृष्ट रूप है।'

दूसरी ओर, प्राकृतविद्या के सम्पादक डॉ.सुदीपजी का कथन है कि उनके व्याख्यान की टेप हमारे पास उपलब्ध है और हमने उनके विचारों की अविकल रूप से यथावत् प्रस्तुति की है। मात्र इतना ही नहीं डॉ.सुदीपजी का तो यह भी कथन है कि तुलसीप्रज्ञा के खण्डन के बाद भी वे टाँटियाजी से मिले हैं और टाँटियाजी ने उन्हें कहा है कि वे अपने कथन पर आज भी दृढ़ हैं। टाँटियाजी के इस कथन को उन्होंने प्राकृतविद्या, जुलाई–सितम्बर 1996 के अंक में निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है–

'मैं संस्कृत विद्यापीठ की व्याख्यानमाला में प्रस्तुत तथ्यों पर पूर्णतया दृढ़ हूँ तथा यह मेरी तथ्याधारित स्पष्ट अवधारणा है, जिससे विचलित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।'(पृष्ठ 9)

यह समस्त विवाद दो पत्रिकाओं के माध्यम से दोनों सम्पादकों के मध्य है; किन्तु इस विवाद में सत्यता क्या है और डॉ.टाँटिया का मूल मन्तव्य क्या है, इसका निर्णय तो तभी सम्भव था जब डॉ. टाँटिया स्वयं इस सम्बन्ध में लिखित वक्तव्य देते; किन्तु वे इस सम्बन्ध में मौन रहे। मैंने स्वयं उन्हें पत्र लिखा था; किन्तु उनका कोई प्रत्युत्तर नहीं आया। मैं डॉ. टाँटिया की उलझन समझता हूँ–एक ओर कुन्दकुन्द भारती ने उन्हें कुन्दकुन्द व्याख्यान हेतु आमन्त्रित किया था, तो दूसरी ओर वे 'जैन विश्वभारती' की सेवा में थे, जब जिस मंच से बोले होंगे, भावावेश में उनके अनुकूल कुछ कह दिये होंगे और अब स्पष्ट खण्डन भी कैसे करें? फिर भी, मेरी अन्तरात्मा यह स्वीकार नहीं करती है कि डॉ. टाँटिया जैसे गम्भीर विद्वान् बिना प्रमाण के ऐसे वक्तव्य दे दें। कहीं न कहीं शब्दों की कोई जोड़–तोड़ अवश्य हो रही है। डॉ.सुदीपजी प्राकृतविद्या, जुलाई–सितम्बर,1996 में डॉ. टाँटियाजी के उक्त व्याख्यानों के विचार–बिन्दुओं को अविकल रूप से प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि 'हरिभद्र का सारा योगशतक धवला से (के आधार

पर बना) है।

इसका तात्पर्य यह है कि हरिभद्र ने 'योगशतक' को धवला के आधार पर बनाया है। क्या टाँटियाजी जैसे विद्वान् को इतना भी इतिहास बोध नहीं रहा होगा कि 'योगशतक' के कर्त्ता हरिभद्रसूरि और 'धवला' के कर्त्ता में कौन पहले हुआ है? यह ऐतिहासिक सत्य है कि हरिभद्रसूरि का 'योगशतक' (आठवीं शती), 'धवला (10वीं शती) से पूर्ववर्ती है। मुझे विश्वास भी नहीं होता है कि टाँटियाजी जैसे विद्वान् इस ऐतिहासिक सत्य को अनदेखा कर दें। कहीं न कहीं उनके नाम पर कोई भ्रम खड़ा किया गया है।'

वस्तुतः, यदि कोई भी चर्चा प्रमाणों के आधार पर नहीं होती है, तो उसे मान्य नहीं किया जा सकता है, फिर चाहे उसे कितने ही बड़े विद्वान् ने क्यों न कहा हो? यदि व्यक्ति का ही महत्त्व मान्य है, तो अभी संयोग से टाँटियाजी से भी वरिष्ठ,अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के जैन-बौद्ध विद्याओं के महामनीषी और स्वयं टाँटियाजी के गुरु पद्मविभूषण पं. दलसुखभाई हमारे बीच हैं, फिर तो उनके कथन को अधिक प्रामाणिक मानकर 'प्राकृतविद्या' के सम्पादक को स्वीकार करना होगा। खैर यह सब प्रास्ताविक बातें थीं, जिससे यह समझा जा सके कि समस्या क्या है, कैसे उत्पन्न हुई और प्रस्तुत संगोष्ठी की क्या आवश्यकता है? हमें तो व्यक्तियों के कथनों और वक्तव्यों पर न जाकर तथ्यों के प्रकाश में इसकी समीक्षा करनी है कि जैन आगमों की मूल भाषा क्या थी और अर्धमागधी तथा शौरसेनी में कौन प्राचीन है?

आगमों की मूल भाषा-अर्धमागधी

(क) यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि महावीर का जन्मक्षेत्र और कार्यक्षेत्र-दोनों ही मुख्य रूप से मगध और उसका समीपवर्ती क्षेत्र ही रहा है, अतः यह स्वाभाविक है कि उन्होंने जिस भाषा में बोला होगा वह समीपवर्ती क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी अर्थात् अर्धमागधी रही होगी। व्यक्ति की भाषा कभी भी अपनी मातृभाषा से अप्रभावित नहीं होती है। पुनः, श्वेताम्बर परम्परा में मान्य जो भी 'आगम साहित्य' आज उपलब्ध है, उनमें अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं, जिनमें स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि महावीर ने अपने उपदेश अर्धमागधी भाषा में दिये थे।

इस सम्बन्ध में अर्धमागधी आगम साहित्य से कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं, यथा-

1. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खई।–समवायांग, समवाय 34, सूत्र 22
2. तए णं समणे भगवं महावीरे कुणिअस्स भंभसारपुत्तस्स अद्धमागहाए भासाए भासिता अरिहा धम्मंपरिकहेई। – औपपातिकसूत्र 1.
3. गोयमा! देवा णं अद्धमागहीए भासाए भासंति स वि य णं अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी विसज्जति।–भगवई, लाडनूँ, शतक 5, उद्देशक 4, सूत्र 93.
4. तए णं समये भगवं महावीरे उसभदत्तमाहणस्स देवाणंदामाहणीए तीसे य महति महलियाए इसिपरिसाए मुणिपरिसाए जइपरिसाए.... सव्व भाषाणु.... गमिणिय सरस्सईए जोयणणीहारिणासरेणं अद्धमागहाए भासाए भासए धम्मं परिकहेई। – भगवई, लाडनूँ, शतक 9, उद्देशक 33, सूत्र 149.
5. तए णं समये भगवं महावीरे जामालिस्स खत्तियकुमारस्य.... अद्धमागहाए भासाए भासइ धम्मं परिकहेइ। –भगवई, लाडनूँ, शतक 9, उद्देशक 33, सूत्र 163.
6. सव्वसत्तसमदरिसीहिं अद्धमागहाए भासाए सुत्तं उवदिट्ठं। –आचारांगचूर्णि, जिनदासगणि, पृ.255.

मात्र इतना ही नहीं, दिगम्बर–परम्परा में मान्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ 'बोधपाहुड', जो स्वयं शौरसेनी में निबद्ध है, उसकी टीका में दिगम्बर आचार्य श्रुतसागरजी लिखते हैं कि भगवान् महावीर ने अर्धमागधी भाषा में अपना उपदेश दिया था। प्रमाण के लिए उस टीका के हिन्दी अनुवाद का यह अंश प्रस्तुत है। 'अर्ध मगधदेश की भाषात्मक' और अर्ध सर्वभाषात्मक भगवान् की ध्वनि खिरती है। शंका–अर्धमागधी भाषा देवकृत अतिशय कैसे हो सकती है, क्योंकि भगवान् की भाषा ही अर्धमागधी है? उत्तर–मागध देव के सान्निध्य में होने से। आचार्य प्रभाचन्द्र ने 'नन्दीश्वर भक्ति' के अर्थ में लिखा है– 'एक योजन तक भगवान् की वाणी स्वयमेव सुनायी देती है। उसके आगे संख्यात् योजनों तक उस दिव्य ध्वनि का विस्तार मगध जाति के देव करते हैं। अतः, अर्धमागधी भाषा देवकृत है।' (षट्प्राभृतम्, चतुर्थ बोधपाहुड–टीका, गाथा 32, पृ.119)

मात्र यही नहीं, वर्त्तमान में भी दिगम्बर–परम्परा के महान् सन्त एवं आचार्य विद्यासागरजी के प्रमुख शिष्य मुनिश्री प्रमाणसागरजी अपनी पुस्तक जैनधर्म–दर्शन, (प्रथम संस्करण) पृ. 40 पर लिखते हैं कि 'उन भगवान् महावीर का उपदेश सर्वग्राह्य अर्धमागधी भाषा में हुआ।'

जब श्वेताम्बर और दिगम्बर–दोनों ही परम्पराएँ यह मानकर चल रही हैं कि भगवान् का उपदेश अर्धमागधी में हुआ था और इसी भाषा में उनके उपदेशों के आधार पर आगमों का प्रणयन हुआ, तो फिर शौरसेनी के नाम से नया विवाद खड़ा करके इस खाई को चौड़ा क्यों किया जा रहा है?

(ख) उपरोक्त आगमिक प्रमाणों की चर्चा के अलावा व्यावहारिक एवं ऐतिहासिक तथ्य भी इसी की पुष्टि करते हैं–

1. यदि भगवान् महावीर ने अपने उपदेश अर्धमागधी में दिये, तो यह स्वाभाविक है कि गणधरों ने उसी भाषा में आगमों का प्रणयन किया होगा, अतः आगमों की मूलभाषा क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी अर्थात् अर्धमागधी रही है– यह मानना होगा।
2. इसके विपरीत, 'शौरसेनी आगम तुल्य' मान्य ग्रन्थों में किसी एक भी ग्रन्थ में एक भी सन्दर्भ ऐसा नहीं है, जिससे यह प्रतिध्वनित भी होता हो कि आगमों की मूल भाषा शौरसेनी प्राकृत थी। उनमें मात्र यह उल्लेख है कि तीर्थंकरों की जो वाणी खिरती है, वह सर्वभाषारूप परिणत होती है। इसका तात्पर्य मात्र इतना ही है कि उनकी वाणी जनसाधारण को आसानी से समझ में आती थी। यह लोकवाणी थी। उसमें मगध के निकटवर्ती क्षेत्रों की क्षेत्रीय बोलियों के शब्दरूप भी होते थे और यही कारण था कि उसे मागधी न कहकर अर्धमागधी कहा गया है।
3. जो ग्रन्थ जिस क्षेत्र में रचित या सम्पादित होता है, उसका वहाँ की बोली से प्रभावित होना स्वाभाविक है। प्राचीन स्तर के 'जैन आगम', यथा–'आचाराङ्ग', 'सूत्रकृताङ्ग', 'ऋषिभाषित', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक' आदि मगध और उसके समीपवर्ती क्षेत्र में रचित हैं और उनमें इसी क्षेत्र के नगरों आदि की सूचनाएँ हैं। मूल आगमों में एक भी ऐसी सूचना नहीं है कि भगवान् महावीर ने बिहार, बंगाल और पूर्वी उत्तरप्रदेश से आगे विहार किया हो। अतः, उनकी भाषा अर्धमागधी ही रही होगी।
4. पुनः, आगमों की प्रथम वाचना पाटलिपुत्र में और दूसरी वाचना खण्डगिरि (उड़ीसा) में हुई, ये दोनों क्षेत्र मथुरा से पर्याप्त दूरी पर स्थित हैं, अतः कम से कम प्रथम और द्वितीय वाचना के समय तक अर्थात् ई.पू. दूसरी या प्रथम शती तक उनके शौरसेनी में रूपान्तरित होने का या उससे प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

यह सत्य है कि उसके पश्चात् जब जैनधर्म एवं विद्या का केन्द्र पाटलीपुत्र से हटकर लगभग ई.पू. दूसरी शती या प्रथम शती में मथुरा बना, तो उस पर शौरसेनी का प्रभाव आना प्रारम्भ हुआ हो। यद्यपि मथुरा से प्राप्त दूसरी शती तक के अभिलेखों का शौरसेनी के प्रभाव से मुक्त होना यही सिद्ध करता है कि जैनागमों पर शौरसेनी का प्रभाव दूसरी शती के पश्चात् ही प्रारम्भ हुआ होगा। सम्भवतः, फल्गुमित्र (दूसरी शती) के समय या उसके भी पश्चात् स्कन्दिल (चतुर्थ शती) की 'माथुरी वाचना' के समय उन पर शौरसेनी का प्रभाव आया था, यही कारण है कि यापनीय परम्परा में मान्य 'आचाराङ्ग', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक', 'निशीथ','कल्प' आदि जो आगम रहे हैं, वे शौरसेनी से प्रभावित रहे हैं। यदि डॉ.टाँटिया ने यह कहा है कि 'आचाराङ्ग' आदि श्वेताम्बर आगमों का शौरसेनी से प्रभावित संस्करण भी था, जो मथुरा क्षेत्र में विकसित 'यापनीय परम्परा' को मान्य था, तो उनका कथन सत्य है, क्योंकि 'भगवती आराधना की टीका में' 'आचाराङ्ग', 'उत्तराध्ययन', 'निशीथ' आदि के जो सन्दर्भ दिए गए हैं, वे सभी शौरसेनी से प्रभावित हैं; किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि आगमों की रचना शौरसेनी में हुई थी और वे बाद में अर्धमागधी में रूपान्तरित किये गये। ज्ञातव्य है कि 'माथुरी वाचना' स्कन्दिल के समय भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग आठ सौ वर्ष पश्चात् हुई थी और उसमें जिन आगमों की वाचना हुई, वे सभी उसके पूर्व अस्तित्व में थे ही। यापनीयों ने आगमों के इसी शौरसेनी प्रभावित संस्करण को मान्य किया था; किन्तु दिगम्बरों के लिए तो वे आगम भी मान्य नहीं थे, क्योंकि उनके अनुसार तो इस 'माथुरी वाचना' के लगभग दो सौ वर्ष पूर्व ही 'आगम साहित्य' विलुप्त हो चुका था। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य 'आचाराङ्ग', 'सूत्रकृताङ्ग', 'ऋषिभाषित', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक', 'कल्प', 'व्यवहार', 'निशीथ' आदि तो ई.पू. चौथी शती से दूसरी तक की रचनाएँ हैं, जिसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। ज्ञातव्य है कि मथुरा का जैन विद्या के केन्द्र के रूप में विकास ई.पू. द्वितीय या प्रथम शती से ही हुआ है और उसके पश्चात् ही इन आगमों पर शौरसेनी प्रभाव आया होगा।

आगमों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन कब और कैसे?

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि स्कन्दिलाचार्य की इस 'माथुरी वाचना' के समय ही समानान्तर रूप से एक वाचना वलभी (गुजरात) में नागार्जुन की अध्यक्षता में हुई थी,

अतः इसी काल में उस पर महाराष्ट्री का प्रभाव भी आया, क्योंकि उस क्षेत्र की प्राकृत महाराष्ट्री प्राकृत थी। इसी महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित 'आगम' आज तक श्वेताम्बर-परम्परा में मान्य हैं।अतः, इस तथ्य को भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आगमों के महाराष्ट्री प्रभावित और शौरसेनी प्रभावित संस्करण, जो लगभग ईसा की चतुर्थ-पञ्चम शती में अस्तित्व में आये, उनका मूल आधार अर्धमागधी आगम ही रहे। यह भी ज्ञातव्य है कि न तो स्कन्दिलाचार्य की 'माथुरी वाचना' में और न नागार्जुन की 'वलभी वाचना' में आगमों की भाषा में सोच-समझपूर्वक कोई परिवर्तन किया गया था। वास्तविकता यह है कि उस युग तक 'आगम' कण्ठस्थ चले आ रहे थे और कोई भी कण्ठस्थ ग्रन्थ स्वाभाविक रूप से कण्ठस्थ करने वाले व्यक्ति की क्षेत्रीय बोली से अर्थात् उच्चारण शैली से अप्रभावित नहीं रह सकता है, यही कारण था कि जो उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ मथुरा में एकत्रित हुआ, उसके 'आगम पाठ' उस क्षेत्र की बोली शौरसेनी से प्रभावित हुए और जो पश्चिमी भारत का निर्ग्रन्थ संघ वलभी में एकत्रित हुआ, उसके 'आगम पाठ' इस क्षेत्र की बोली महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हुए। पुनः, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन दोनों वाचनों में सम्पादित आगमों का मूल आधार तो 'अर्धमागधी आगम' ही थे, यही कारण है कि 'शौरसेनी आगम' न तो शुद्ध शौरसेनी में हैं और न वलभी वाचना के आगम शुद्ध महाराष्ट्री में। उन दोनों में अर्धमागधी के शब्दरूप तो उपलब्ध हो ही रहे हैं। शौरसेनी आगमों में तो अर्धमागधी के साथ-साथ महाराष्ट्री प्राकृत के शब्द-रूप भी बहुलता से मिलते हैं, यही कारण है कि भाषाविद् उनकी भाषा को जैन शौरसेनी और जैन महाराष्ट्री कहते हैं। दुर्भाग्य तो यह है कि जिन शौरसेनी आगमों की दुहाई दी जा रही है, उनमें से प्रत्येक आगम 50 प्रतिशत से अधिक अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्य आगमों में प्राकृत के रूपों का जो वैविध्य है, उसके कारणों की विस्तृत चर्चा मैंने अपने लेख 'जैन आगमों में हुआ भाषिक स्वरूप परिवर्तनः एक विमर्श', सागर जैन विद्याभारती (भाग1, पृ.239-243) में की है। प्रस्तुत प्रसंग में उसका निम्न अंश दृष्टव्य है--

'जैन आगमिक एवं आगम रूप में मान्य अर्धमागधी तथा शौरसेनी ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर अनेक रूपों में दिया जा सकता है। वस्तुतः, इन ग्रन्थों में हुए भाषिक परिवर्तनों का कोई एक ही कारण नहीं है, अपितु अनेक

कारण हैं, जिन पर हम क्रमशः विचार करेंगे-

1. भारत में वैदिक-परम्परा में वेद वचनों को मन्त्ररूप में मानकर उनके स्वर-व्यञ्जन की उच्चारण योजना को अपरिवर्तनीय बनाये रखने पर अधिक बल दिया गया। उनके लिए शब्द और ध्वनि ही महत्त्वपूर्ण रही और अर्थ गौण रहा। यही कारण है कि आज भी अनेक वेदपाठी ब्राह्मण ऐसे हैं, जो वेदमंत्रों की उच्चारण शैली, लय आदि के प्रति तो अत्यन्त सतर्क रहते हैं; किन्तु वे उनके अर्थों को नहीं जानते हैं। यही कारण है कि वेद शब्दरूप से यथावत् बने रहे। इसके विपरीत, जैन-परम्परा में यह माना गया कि तीर्थंकर अर्थ के उपदेष्टा होते हैं, उनके वचनों को शब्दरूप तो गणधर आदि के द्वारा किया जाता है, अतः जैनाचार्यों के लिए अर्थ या कथन का तात्पर्य ही प्रमुख था, उन्होंने कभी भी शब्दों पर बल नहीं दिया। शब्दों में चाहे परिवर्तन हो जाए, लेकिन अर्थों में परिवर्तन नहीं होना चाहिए, यही जैन आचार्यों का प्रमुख लक्ष्य रहा। शब्दरूपों की उनकी इस उपेक्षा के फलस्वरूप आगमों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन होते गए। इसी क्रम में ईसा की चतुर्थ शती में अर्धमागधी आगमों के शौरसेनी-प्रभावित और महाराष्ट्री-प्रभावित संस्करण अस्तित्व में आये।
2. आगम साहित्य में जो भाषिक परिवर्तन हुए, उसका दूसरा कारण यह था कि जैन भिक्षु संघ में विभिन्न प्रदेशों के भिक्षुगण सम्मिलित थे। अपनी-अपनी प्रादेशिक बोलियों से प्रभावित होने के कारण उनकी उच्चारण शैली में भी स्वाभाविक भिन्नता रहती थी, फलतः उनके द्वारा कण्ठस्थ आगम साहित्य के भाषिक स्वरूप में भिन्नताएं आ गयीं।
3. जैन भिक्षु सामान्यतया भ्रमणशील होते हैं, भ्रमणशीलता के कारण उनकी बोलियों, भाषाओं पर भी अन्य प्रदेशों की बोलियों का प्रभाव पड़ता ही था, फलतः आगमों के भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ और उनमें तत्-तत् क्षेत्रीय बोलियों का मिश्रण होता गया। उदाहरण के रूप में, जब पूर्व का भिक्षु पश्चिमी प्रदेशों में अधिक विहार करता है, तो उसकी भाषा में पूर्व एवं पश्चिम-दोनों की ही बोलियों का प्रभाव आ जाता है, फलतः उनके द्वारा कण्ठस्थ आगम के भाषिक स्वरूप की एकरूपता समाप्त हो जाती है।

सामान्यतया-बुद्ध के वचन बुद्ध के निर्वाण के 200-300 वर्ष के अन्दर ही

लिखित रूप में आ गये, अतः उनके भाषिक स्वरूप में रचना-काल के बाद बहुत अधिक परिवर्तन नहीं आया है, तथापि उनकी उच्चारण शैली विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रही है। आज भी श्रीलंका, बर्मा, थाईलैण्ड आदि देशों के भिक्षुओं का त्रिपिटक का उच्चारण भिन्न भिन्न होता है, फिर भी उनके लिखित स्वरूप में बहुत कुछ एकरूपता है। इसके विपरीत, जैन आगमिक एवं आगमतुल्य साहित्य एक सुदीर्घकाल तक लिखित रूप में नहीं आ सका, वह गुरु-शिष्य परम्परा से मौखिक ही चलता रहा, फलतः देश और कालगत उच्चारण भेद से उनको लिपिबद्ध करते समय उनके भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया। मात्र यही नहीं, लिखित प्रतिलिपियों के पाठ भी प्रतिलिपिकारों की असावधानी या क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित हुए। श्वेताम्बर आगमों की प्रतिलिपियाँ मुख्यतः गुजरात एवं राजस्थान में हुईं, अतः उन पर महाराष्ट्री का प्रभाव आ गया।

5. भारत में कागज का प्रचलन न होने से भोजपत्रों या ताड़पत्रों पर ग्रन्थों को लिखवाना और उन्हें सुरक्षित रखना जैन-मुनियों की अहिंसा एवं अपरिग्रह की भावना के प्रतिकूल था। लगभग ई. सन् की 5 वीं शती तक इस कार्य को पाप-प्रवृत्ति माना जाता था तथा इसके लिए दण्ड की व्यवस्था भी थी, फलतः महावीर के पश्चात् लगभग 1000 वर्ष तक जैन साहित्य श्रुत परम्परा पर ही आधारित रहा। श्रुत परम्परा पर आधारित होने से आगमों के भाषिक स्वरूप में वैविध्य आ गया।

6. आगमिक एवं आगम-तुल्य साहित्य में आज भाषिक रूपों का जो वैविध्य देखा जाता है, उसका एक कारण लहियों (प्रतिलिपिकारों) की असावधानी भी रही है। प्रतिलिपिकार जिस क्षेत्र का होता था, उस पर भी उस क्षेत्र की बोली/भाषा का प्रभाव रहता था और असावधानी से अपनी प्रादेशिक बोली के शब्दरूपों को लिख देता था। उदाहरण के रूप में, चाहे मूल पाठ में 'गच्छति' लिखा हो, लेकिन यदि उस क्षेत्र में प्रचलन में 'गच्छई' का व्यवहार है, तो प्रतिलिपिकार 'गच्छइ' रूप ही लिख देगा।

7. जैन आगम एवं आगमतुल्य ग्रन्थों में आये भाषिक परिवर्तनों का एक कारण यह भी है कि वे विभिन्न कालों एवं प्रदेशों में सम्पादित होते रहे हैं। सम्पादकों ने उनके प्राचीन स्वरूप को स्थिर रखने का प्रयत्न नहीं किया, अपितु उन्हें सम्पादित करते

समय अपने युग एवं क्षेत्र की प्रचलित भाषा और व्याकरण के आधार पर उनमें परिवर्तन भी कर दिया। यही कारण है कि अर्धमागधी में लिखित आगम भी जब मथुरा में संकलित एवं सम्पादित हुए, तो उनका भाषिक स्वरूप अर्धमागधी की अपेक्षा शौरसेनी के निकट हो गया, और जब वलभी में लिखे गये, तो वह महाराष्ट्री से प्रभावित हो गया। यह अलग बात है कि ऐसा परिवर्तन सम्पूर्ण रूप से न हो सका और उसमें अर्धमागधी के तत्त्व भी बने रहे। अतः, अर्धमागधी और शौरसेनी आगमों में भाषिक स्वरूप का जो वैविध्य है, वह एक यथार्थता है, जिसे हमें स्वीकार करना होगा।

क्या शौरसेनी आगमों के भाषिक स्वरूप में एकरूपता है?

डॉ. सुदीप जैन का दावा है कि 'आज भी शौरसेनी आगम साहित्य में भाषिक तत्त्व की एकरूपता है, जबकि अर्धमागधी आगम साहित्य में भाषा के विविध रूप पाये जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, शौरसेनी में सर्वत्र 'ण्' का प्रयोग मिलता है, कहीं भी 'न्' का प्रयोग नहीं है, जबकि अर्धमागधी में 'न्'कार के साथ 'ण्'कार का प्रयोग भी विकल्पतः मिलता है। यदि शौरसेनी युग में 'न्'कार का प्रयोग आगम भाषा में प्रचलित होता, तो दिगम्बर-साहित्य में कहीं तो विकल्प से 'न्'कार प्राप्त होता।'- प्राकृतविद्या, जुलाई-सितम्बर 1996, पृ.7

यहाँ डॉ. सुदीप जैन ने दो बातें उठायी हैं, प्रथम शौरसेनी आगम साहित्य की भाषिक एकरूपता की और दूसरी 'ण्'कार और 'न्'कार की। क्या सुदीपजी! आपने शौरसेनी आगम साहित्य के उपलब्ध संस्करणों का भाषाशास्त्र की दृष्टि से कोई प्रामाणिक अध्ययन किया है? यदि आपने किया होता, तो आप ऐसा खोखला दावा प्रस्तुत नहीं करते? आप केवल 'ण'कार का ही उदाहरण क्यों देते हैं, वह तो महाराष्ट्री और शौरसेनी दोनों में सामान्य है। दूसरे शब्द-रूपों की चर्चा क्यों नहीं करते हैं? नीचे, मैं दिगम्बर शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों से ही कुछ उदाहरण दे रहा हूँ, जिनसे उनके भाषिकतत्त्व की एकरूपता का दावा कितना खोखला है-यह सिद्ध हो जाता है। मात्र यही नहीं, इससे यह भी सिद्ध होता है कि शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थ न केवल अर्धमागधी से प्रभावित हैं, अपितु उससे परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत से भी प्रभावित हैं-

1. आत्मा के लिए अर्धमागधी में आता, अत्ता, अप्पा आदि शब्दरूपों के प्रयोग उपलब्ध

हैं, जबकि शौरसेनी में घोषीकरण के कारण 'आता' का 'आदा' रूप बनता है। 'समयसार' में 'आदा' के साथ-साथ 'अप्पा' शब्द-रूप, जो कि अर्धमागधी का है, अनेक बार प्रयोग में आया है, केवल 'समयसार' में ही नहीं, अपितु 'नियमसार' (120, 121, 183) आदि में भी 'अप्पा' शब्द का प्रयोग है।

2. श्रुत का शौरसेनी रूप 'सुद' बनता है। शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर 'सुदकेवली' शब्द के प्रयोग भी हुए हैं, जबकि 'समयसार' (वर्णी ग्रन्थमाला) गाथा 9 एवं 10 में स्पष्ट रूप से 'सुयकेवली', 'सुयणाण' शब्दरूपों का भी प्रयोग मिलता है, जबकि ये दोनों महाराष्ट्री शब्द-रूप हैं और परवर्ती भी हैं। अर्धमागधी में तो सदैव 'सुत' शब्द का प्रयोग होता है।

3. शौरसेनी में मध्यवर्ती असंयुक्त 'त्' का 'द्' होता है, साथ ही उसमें 'लोप' की प्रवृत्ति अत्यल्प है, अतः उसके क्रियारूप 'हवदि, होदि, कुणदि, गिण्हदि, कुव्वदि, परिणमदि, भण्णदि, पस्सदि' आदि बनते हैं, इन क्रियारूपों का प्रयोग उन ग्रन्थों में हुआ भी है; किन्तु उन्हीं ग्रन्थों के क्रिया-रूपों पर महाराष्ट्री प्राकृत का कितना व्यापक प्रभाव है, इसे निम्न उदाहरणों से जाना जा सकता है-

'समयसार' वर्णी ग्रन्थमाला (वाराणसी)-

जाणइ (10), हवई (11, 315, 384, 386), मुणइ (32), वुच्चइ (45), कुव्वइ (81, 286, 319, 321, 325, 340), परिमणइ (76, 79, 80), (ज्ञातव्य है कि 'समयसार' के इसी संस्करण की गाथा क्रमांक 77, 78, 79 में परिणमदि रूप भी मिलता है) इसी प्रकार के अन्य महाराष्ट्री प्राकृत के रूप, जैसे वेयई (84), कुणई (71, 96, 289, 293, 322, 326), होइ (94, 197, 306, 349, 358),करेई (94, 237, 238, 328, 348),हवई (141, 326, 329), जाणई (185, 316, 319, 320, 361), बहइ (189), सेवइ (197), मरइ (257, 290), (जबकि गाथा 258 में मरदि है), पावइ (291, 292), घिप्पइ (296), उप्पज्जइ (308), विणस्सइ (312, 345), दीसइ (323) आदि भी मिलते हैं। ये तो कुछ ही उदाहरण हैं। ऐसे अनेकों महाराष्ट्री प्राकृत के क्रिया-रूप समयसार में उपलब्ध हैं। न केवल 'समयसार', अपितु 'नियमसार', 'पञ्चास्तिकायसार','प्रवचनसार' आदि की भी यही स्थिति है।

बारहवीं शती में रचित वसुनन्दीकृत 'श्रावकाचार' (भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण)

की स्थिति तो कुन्दकुन्द के इन ग्रन्थों से भी बदतर है, उसकी प्रारम्भ की सौ गाथाओं के 40 प्रतिशत क्रियारूप महाराष्ट्री प्राकृत के हैं।

इससे फलित होता है कि तथाकथित शौरसेनी आगमों के भाषागत स्वरूप में तो अर्धमागधी आगमों की अपेक्षा भी न केवल वैविध्य है, अपितु उस पर महाराष्ट्री प्राकृत का भी व्यापक प्रभाव है, जिसे सुदीपजी शौरसेनी से परवर्ती मान रहे हैं। यदि ये ग्रन्थ प्राचीन होते, तो इन पर अर्धमागधी और महाराष्ट्री का प्रभाव कहाँ से आता? प्रो.ए.एम. उपाध्ये ने प्रवचनसार की भूमिका में स्पष्टतः यह स्वीकार किया है कि उसकी भाषा पर अर्धमागधी का प्रभाव है। प्रो. खड़बड़ी ने तो 'षट्खण्डागम' की भाषा को भी शुद्ध शौरसेनी नहीं माना है।

'न' कार और 'ण' कार में कौन प्राचीन ?

अब हम 'ण्'कार और 'न'कार के प्रश्न पर आते हैं। भाई सुदीपजी ! आपका यह कथन सत्य है कि अर्धमागधी में 'न'कार और 'ण'कार दोनों पाये जाते हैं; किन्तु दिगम्बर शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों में सर्वत्र 'ण'कार का पाया जाना यही सिद्ध करता है कि जिस शौरसेनी को आप अरिष्टनेमि के काल से प्रचलित प्राचीनतम प्राकृत कहना चाहते हैं, उस 'ण'कार प्रधान शौरसेनी का जन्म तो ईसा की तीसरी शताब्दी तक हुआ भी नहीं था। 'ण' की अपेक्षा 'न' का प्रयोग प्राचीन है। ई.पू.तृतीय शती के अशोक के अभिलेख एवं ई.पू. द्वितीय शती के खारवेल के शिलालेख से लेकर मथुरा के शिलालेख (ई.पू.दूसरी शती से ईसा की तीसरी शती तक) इन लगभग 80 जैन शिलालेखों में दन्त्य 'न'कार के स्थान पर एक भी 'ण'कार का प्रयोग नहीं है। इनमें शौरसेनी प्राकृत के रूपों, यथा-'णमो', 'अरिहंताणं' और 'णमो वड्ढमाणं' का सर्वथा अभाव है। यहाँ हम केवल उन्हीं प्राचीन शिलालेखों को उद्धृत कर रहे हैं, जिनमें इन शब्दों का प्रयोग हुआ है-ज्ञातव्य है कि ये सभी अभिलेखीय साक्ष्य जैन शिलालेख संग्रह, भाग-2 से प्रस्तुत हैं, जो दिगम्बर जैन समाज द्वारा ही प्रकाशित हैं।

1. हाथीगुम्फा उड़ीसा का शिलालेख-प्राकृत, जैन सम्राट खारवेल, मौर्यकाल 165वाँ वर्ष, पृ.4, लेख क्रमांक 2, 'नमो अरहंतानं, नमो सवसिधानं'.
2. वैकुण्ठ स्वर्गपुरी गुफा, उदयगिरि, उड़ीसा-प्राकृत, मौर्यकाल 165वाँ वर्ष, लगभग ई.पू.दूसरी शती, पृ.11, ले.क्र.3, 'अरहन्तपसादन'

3. मथुरा, प्राकृत, महाक्षत्रप शोडाशके, 81 वर्ष का, पृ.12, क्रमांक 5, 'नम अहरतो वधमानस'.
4. मथुरा, प्राकृत, काल निर्देश नहीं दिया है; किन्तु जे.एफ.फ्लींट के अनुसार लगभग 13-14 ई.पू. पूर्व प्रथम शती का होना चाहिए, पृ.15, क्र.9, 'नमोअरहतो वधमानस्य'.
5. मथुरा, प्राकृत, सम्भवतः 13-14 ई.पू. प्रथम शती, पृ.15, लेख क्रमांक 10 (न)मो अरहतपूजा (ये).
6. मथुरा, प्राकृत, पृ.17, क्र.14, ' मा अहरतानं (अरहंतानं) श्रमण-श्राविका(य)'.
7. मथुरा, प्राकृत, पृ.17, क्र.15, 'नमो अरहंतानं'.
8. मथुरा, प्राकृत, पृ.18, क्रमांक 16, 'नमो अरहतो महाविरस'.
9. मथुरा, प्राकृत, हुविष्क संवत् 39-हस्तिस्तम्भ, पृ-34, क्रमांक 43, 'अर्य्येन रुद्रदासेन' अरहंतनं पुजाये.
10. मथुरा, प्राकृत, भग्न, वर्ष 93, पृ.46, क्रमांक 67, 'नमो अर्हतो महाविरस्य'.
11. मथुरा, प्राकृत, वासुदेव, सं.98, पृ.47, क्रमांक 60, 'नमो अरहतो महावीरस्य'.
12. मथुरा, प्राकृत, पृ.48 9, (बिना काल निर्देश), क्रमांक 71, 'नमो अरहंतानं सिहकस'.
13. मथुरा, प्राकृत, भग्न (बिना काल निर्देश), पृ.48, क्रमांक 72, 'नमो अरहंताना'.
14. मथुरा, प्राकृत, भग्न (बिना काल निर्देश), पृ.48, क्रमांक 73, 'नमो अरहंतान'.
15. मथुरा, प्राकृत, भग्न (बिना काल निर्देश), पृ.49, क्रमांक 75, 'अरहंतान वधमानस्य'.
16. मथुरा, प्राकृत, भग्न, पृ.51, क्रमांक 80, 'नमो अरहंताण...'.

शूरसेन प्रदेश, जहाँ से शौरसेनी प्राकृत का जन्म हुआ, वहाँ के शिलालेखों में दूसरी-तीसरी शती तक 'न'कार के स्थान पर 'ण'कार एवं मध्यवर्ती असंयुक्त 'त्' के स्थान पर 'द्' के प्रयोग का अभाव यही सिद्ध करता है कि दिगम्बर आगमों एवं नाटकों की शौरसेनी का जन्म ईसा की दूसरी शती के पूर्व का नहीं है, जबकि 'न'कार प्रधान

अर्धमागधी का चलन तो अशोक के अभिलेखों से अर्थात् ई.पू.तीसरी शती से सिद्ध होता है। इससे यही फलित होता है कि अर्धमागधी आगम प्राचीन हैं और आगमों का शब्द-रूपान्तरण अर्धमागधी से शौरसेनी में हुआ है न कि शौरसेनी से अर्धमागधी में हुआ है। दिगम्बर मान्य आगमों की वह शौरसेनी, जिसकी प्राचीनता का बढ़-चढ़कर दावा किया जाता है, वह अर्धमागधी और महाराष्ट्री-दोनों से ही प्रभावित है और न केवल भाषायी स्वरूप के आधार पर, परन्तु अपनी विषयवस्तु के आधार पर ईसा की चौथी-पांचवी शती के पूर्व की नहीं है।

यदि शौरसेनी प्राचीनतम प्राकृत है, तो फिर सम्पूर्ण देश में ईसा की तीसरी-चौथी शती तक का एक भी अभिलेख शौरसेनी प्राकृत में क्यों नहीं मिलता है? अशोक के अभिलेख, खारवेल के अभिलेख, बडली का अभिलेख और मथुरा के शताधिक अभिलेख कोई भी तो शौरसेनी प्राकृत में नहीं है। इन सभी अभिलेखों की भाषा क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी ही है, अतः, उसे अर्धमागधी तो कहा जा सकता है; किन्तु शौरसेनी कदापि नहीं कहा जा सकता। अतः, प्राकृतों में अर्धमागधी ही प्राचीन है, क्योंकि मथुरा के प्राचीन अभिलेखों में भी नमो अरहंतानं, नमो वधमानस आदि अर्धमागधी शब्द-रूप मिलते हैं। श्वेताम्बर आगमों एवं अभिलेखों में आये 'अरहंतानं ' पाठ को तो 'प्राकृतविद्या' में खोटे सिक्के की तरह बताया गया है, इसका अर्थ है कि यह पाठ शौरसेनी का नहीं है (प्राकृतविद्या, अक्टूबर-दिसम्बर, 1994, पृ.10-11), अतः शौरसेनी उसके बाद ही विकसित हुई है।

शौरसेनी आगम और उनकी प्राचीनता

जब हम आगम की बात करते हैं, तो हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि 'आचाराङ्ग' आदि द्वादशाङ्गी, जिन्हें श्वेताम्बर, दिगम्बर, यापनीय-परम्परा आगम कहकर उल्लेखित करती हैं, वे सभी मूलतः अर्धमागधी में निबद्ध हुए हैं। चाहे श्वेताम्बर परम्परा में 'नन्दीसूत्र' में उल्लेखित आगम हों, चाहे 'मूलाचार', 'भगवती आराधना' और उनकी टीकाओं में या 'तत्त्वार्थ' और उसकी दिगम्बर टीकाओं में उल्लेखित आगम हों, अथवा 'अंगपण्णति' एवं 'धवला' के अंग और अंगबाह्य के रूप में उल्लेखित आगम हों, उनमें से एक भी ऐसा नहीं है, जो शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था। हाँ, इतना अवश्य है कि इनमें से कुछ के शौरसेनी प्राकृत से प्रभावित संस्करण माथुरी वाचना के समय लगभग

चतुर्थ शती में अस्तित्व में अवश्य आये थे; किन्तु इन्हें शौरसेनी आगम कहना उचित नहीं होगा। वस्तुतः, ये 'आचाराङ्ग', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक', 'ऋषिभाषित' आदि श्वेताम्बर-परम्परा में मान्य आगमों के ही शौरसेनी संस्करण थे, जो यापनीय-परम्परा में मान्य थे और जिनकी भाषिक स्वरूप और कुछ पाठ-भेदों को छोड़कर श्वेताम्बर मान्य आगमों से समरूपता थी। इनके स्वरूप आदि के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा मैंने 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' नामक ग्रन्थ के तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में की है। इच्छुक पाठक उसे वहाँ देख सकते हैं।

वस्तुतः, आज जिन्हें हम शौरसेनी आगम के नाम से जानते हैं, उनमें मुख्यतः निम्न ग्रन्थ आते हैं-

अ) यापनीय आगम

1. कसायपाहुड, लगभग ईसा की चौथी शती, गुणधराचार्य-रचित
2. षट्खण्डागम, ईसा की पाँचवी शती का उत्तरार्द्ध, पुष्पदन्त और भूतबलि।
3. भगवती आराधना, ईसा की छठवीं शती, शिवार्य-रचित।
4. मूलाचार, ईसा की छठवीं शती, वट्टकेर-रचित।

ज्ञातव्य है कि ये सभी ग्रन्थ मूलतः यापनीय-परम्परा के रहे हैं और इसमें अनेकों गाथाएं श्वेताम्बर मान्य आगमों, विशेष रूप से निर्युक्तियों और प्रकीर्णकों के समरूप हैं।

ब) कुन्दकुन्द, ईसा की पांचवी-छठवीं शताब्दी के लगभग के ग्रन्थ-

5. समयसार
6. नियमसार
7. प्रवचनसार
8. पञ्चास्तिकायसार
9. अष्टपाहुड (इसका कुन्दकुन्द द्वारा रचित होना संदिग्ध है, क्योंकि इसकी भाषा में अपभ्रंश के शताधिक प्रयोग मिलते हैं और इसका भाषा स्वरूप भी कुन्दकुन्द की भाषा से परवर्ती है)

स) अन्य ग्रन्थ (ईसा की पाँचवी-छठवीं शती के पश्चात्)

10. तिलोयपण्णत्ति–यतिवृषभ
11. लोकविभाग
12. जम्बूदीपपण्णत्ति
13. अंगपण्णत्ति
14. क्षपणसार
15. गोम्मटसार (दसवीं शती)

इनमें से 'कषायपाहुड' को छोड़कर कोई भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जो पाँचवी शती के पूर्व का हो। ये सभी ग्रन्थ गुणस्थान सिद्धान्त एवं सप्तभंगी की चर्चा अवश्य करते हैं और गुणस्थान की चर्चा जैन दर्शन में पाँचवी शती से पूर्व के ग्रन्थां में अनुपस्थित है। श्वेताम्बर आगमों में 'समवायांग' और 'आवश्यकनिर्युक्ति' की दो प्रक्षिप्त गाथाओं को छोड़कर गुणस्थान की चर्चा पूर्णतः अनुपस्थित है, जबकि 'षट्खण्डागम', 'मूलाचार ', 'भगवतीआराधना' आदि ग्रन्थों में और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में इसकी चर्चा पायी जाती है, अतः ये सभी ग्रन्थ उनसे परवर्ती हैं। इसी प्रकार, उमास्वाति के 'तत्त्वार्थसूत्र' –मूल और उसके स्वोपज्ञभाष्य में भी गुणस्थान की चर्चा अनुपस्थित है, जबकि इसकी परवर्ती टीकाएं गुणस्थान की विस्तृत चर्चाएँ प्रस्तुत करती हैं। उमास्वाति का काल तीसरी–चौथी शती के लगभग है, अतः यह निश्चित है कि गुणस्थान का सिद्धान्त पाँचवीं शती में अस्तित्व में आया है, इसलिए शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध कोई भी ग्रन्थ, जो गुणस्थान का उल्लेख कर रहा है, ईसा की पाँचवीं शती के पूर्व का नहीं हो सकता। प्राचीन शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों में मात्र 'कसायपाहुड' ही ऐसा है, जो स्पष्टतः गुणस्थानों का उल्लेख नहीं करता है; किन्तु उसमें भी प्रकारान्तर से 12 गुणस्थानों की चर्चा उपलब्ध है, अतः वह भी आध्यात्मिक विकास की उन दस अवस्थाओं, जिनका उल्लेख 'आचाराङ्गनिर्युक्ति ' और 'तत्त्वार्थसूत्र' में है, से परवर्ती और गुणस्थान सिद्धान्त के विकास के संक्रमणकाल की रचना है, अतः उसका काल भी चौथी से पाँचवीं शती के बीच सिद्ध होता है।

शौरसेनी की प्राचीनता का दावा, कितना खोखला

शौरसेनी की प्राचीनता का गुणगान इस आधार पर किया जाता है कि यह नारायण कृष्ण और तीर्थंकर अरिष्टनेमि की मातृभाषा रही है, क्योंकि इन दोनों महापुरुषों का जन्म

शूरसेन में हुआ था और ये शौरसेनी प्राकृत में ही अपना वाक्-व्यवहार करते थे। डॉ.सुदीपजी के शब्दों में, 'इन दोनों महापुरुषों के प्रभावक व्यक्तित्व के महाप्रभाव से शूरसेन जनपद में जन्मीं शौरसेनी प्राकृत भाषा को सम्पूर्ण आर्यावर्त्त में प्रसारित होने का सुअवसर मिला था।' (प्राकृतविद्या, जुलाई सितम्बर 1996, पृ.6)

यदि हम एक बार उनके इस कथन को मान भी लें, तो प्रश्न यह उठता है कि अरिष्टनेमि के पूर्व नमि मिथिला में जन्मे थे, वासुपूज्य चम्पा में जन्मे थे, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ और श्रेयांस काशी जनपद में जन्मे थे, यही नहीं, प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और मर्यादा पुरुषोत्तम राम अयोध्या में जन्मे थे। यह सभी क्षेत्र तो मगध का ही निकटवर्ती क्षेत्र है। अतः इनकी मातृभाषा तो अर्धमागधी रही होगी या और कोई दूसरी भाषा। भाई सुदीपजी के अनुसार यदि, शौरसेनी अरिष्टनेमि जितनी प्राचीन है, तो फिर अर्धमागधी तो ऋषभ जितनी प्राचीन सिद्ध होती है, अतः शौरसेनी से अर्धमागधी प्राचीन ही साबित होती है।

यदि शौरसेनी प्राचीन होती, तो सभी प्राचीन अभिलेख और प्राचीन आगमिक ग्रन्थ शौरसेनी में मिलते; किन्तु ईसा की चौथी-पाँचवीं शती से पूर्व का कोई भी जैन ग्रन्थ और अभिलेख शौरसेनी में उपलब्ध क्यों नहीं होता है? पुनः, नाटकों में भी भास के समय से अर्थात् ईसा की दूसरी शती से ही शौरसेनी के प्रयोग (वाक्यांश) उपलब्ध होते हैं।

जब नाटकों में शौरसेनी प्राकृत की उपलब्धता के आधार पर उसकी प्राचीनता का गुणगान किया जाता है, तब मैं विनम्रतापूर्वक पूछना चाहूँगा कि क्या इन उपलब्ध नाटकों में कोई भी नाटक ईसा की दूसरी-तीसरी शती से पूर्व का है? यदि नहीं, तो फिर उन्हें शौरसेनी की प्राचीनता का आधार कैसे माना जा सकता है? मात्र नाटक ही नहीं, वे शौरसेनी प्राकृत का एक भी ऐसा ग्रन्थ या अभिलेख दिखा दें, जो अर्धमागधी आगमों और मागधी प्रधान अशोक, खारवेल आदि के अभिलेखों से प्राचीन हो। अर्धमागधी के अतिरिक्त जिस महाराष्ट्री प्राकृत को वे शौरसेनी से परवर्ती बता रहे हैं, उसमें हाल की 'गाथासप्तशती' ई.सन् की लगभग प्रारंभिक शतियों में रचित है और शौरसेनी के किसी भी ग्रन्थ से वह लगभग प्राचीन है।

पुनः, मैं डॉ.सुदीपजी के निम्न कथन की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना चाहूँगा- वे प्राकृतविद्या, जुलाई-सितम्बर 1996 में लिखते हैं कि दिगम्बरों के ग्रन्थ उस शौरसेनी प्राकृत में हैं, जिससे 'मागधी' आदि प्राकृतों का जन्म हुआ। इस सम्बन्ध में मेरा उनसे

निवेदन है कि मागधी के सम्बन्ध में 'प्रकृतिः शौरसेनी' (प्राकृत प्रकाश-11/2) इस कथन की वे जो व्याख्या कर रहे हैं, वह भ्रान्तिपूर्ण है और वे स्वयं भी शौरसेनी के सम्बन्ध में 'प्रकृतिः संस्कृतम्'('प्राकृत प्रकाश'-12/2) इस सूत्र की व्याख्या में 'प्रकृति' का, 'जन्मदात्री'-ऐसा अर्थ अस्वीकार कर चुके हैं। इसकी विस्तृत समीक्षा हमने अग्रिम पृष्ठों में की है। इसके प्रत्युत्तर में मेरा दूसरा तर्क यह है कि यदि शौरसेनी के ग्रन्थों के आधार पर ही मागधी के प्राकृत आगमों की रचना हुई हो, तो उनमें किसी भी शौरसेनी प्राकृत के ग्रन्थ का उल्लेख क्यों नहीं है? श्वेताम्बर आगमों में वे एक भी सन्दर्भ दिखा दें, जिनमें 'भगवती-आराधना', 'मूलाचार', 'षट्खण्डागम', 'तिलोयपण्णति', 'प्रवचनसार', 'समयसार', 'नियमसार' आदि का उल्लेख हुआ हो। टीकाओं में भी मलयगिरि (तेरहवीं शती) ने मात्र 'समयपाहुड' का उल्लेख किया है, इसके विपरीत 'मूलाचार ','भगवती आराधना','श्लोकवार्त्तिक' आदि सभी दिगम्बर टीकाओं में (श्वेताम्बर अर्धमागधी) आगमों एवं निर्युक्तियों के उल्लेख मिलते हैं। 'भगवती आराधना' की टीका में तो 'आचाराङ्ग', 'उत्तराध्ययन','कल्पसूत्र' तथा 'निशीथसूत्र' से अनेक अवतरण दिये गए हैं। 'मूलाचार' में 'आवश्यकनिर्युक्ति', 'आतुरप्रत्याख्यान', 'महाप्रत्याख्यान', 'चन्द्रवैध्यक', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक' आदि की अनेक गाथाएँ अपने शौरसेनी शब्द-रूपों में यथावत् पायी जाती हैं।

दिगम्बर-परम्परा में जो प्रतिक्रमणसूत्र उपलब्ध हैं, उसमें 'ज्ञातासूत्र' के उन्हीं 19 अध्ययनों के नाम मिलते हैं, जो वर्त्तमान में श्वेताम्बर-परम्परा के 'ज्ञाताधर्मकथा' में उपलब्ध हैं। तार्किक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि जो ग्रन्थ जिन-जिन ग्रन्थों का उल्लेख करता है, वह उनसे परवर्ती ही होता है, पूर्ववर्ती कदापि नहीं। शौरसेनी-आगम या आगमतुल्य ग्रन्थों में यदि अर्धमागधी आगमों के नाम मिलते हैं, तो फिर शौरसेनी और उस भाषा में रचित साहित्य अर्धमागधी से प्राचीन कैसे हो सकता है?

आदरणीय टाँटियाजी के माध्यम से यह बात भी उठाई गई कि मूलतः आगम शौरसेनी में रचित थे और कालान्तर में उनका अर्धमागधीकरण (महाराष्ट्रीकरण) किया गया। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि महावीर के संघ का उद्भव मगधदेश में हुआ और वहीं से वह दक्षिण एवं उत्तर-पश्चिमी भारत में फैला, अतः आवश्यकता हुई,अर्धमागधी आगमों के शौरसेनी और महाराष्ट्री रूपान्तर की, न कि शौरसेनी आगमों के अर्धमागधी

रूपान्तर की। सत्य तो यह है कि अर्धमागधी आगम ही शौरसेनी या महाराष्ट्री में रूपान्तरित हुए, न कि शौरसेनी आगम अर्धमागधी में। अतः, ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना द्वारा मात्र तथ्यहीन तर्क करना कहाँ तक उचित होगा?

बुद्ध वचनों की मूल भाषा मागधी थी, न कि शौरसेनी

शौरसेनी को मूलभाषा एवं मागधी से प्राचीन सिद्ध करने हेतु आदरणीय प्रो. नथमल टाँटियाजी के नाम से यह भी प्रचारित किया जा रहा है कि 'शौरसेनी पाली भाषा की जननी है, यह मेरा स्पष्ट चिन्तन है। पहले बौद्धों के ग्रन्थ शौरसेनी में थे, जिनको जला दिया गया और फिर पाली में लिखा गया।'–प्राकृतविद्या, जुलाई–सितम्बर1996, पृ.10.

टाँटियाजी जैसा बौद्धविद्या का प्रकाण्ड विद्वान् ऐसी कपोल–कल्पित बात कैसे कह सकता है, यह विचारणीय है। क्या ऐसा कोई भी अभिलेखीय या साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूल बुद्ध–वचन शौरसेनी में थे। यदि ऐसा हो, तो आदरणीय टाँटियाजी या भाई सुदीपजी उसे प्रस्तुत करें, अन्यथा ऐसी आधारहीन बातें करना विद्वानों के लिए शोभनीय नहीं है।

यह बात तो बौद्ध विद्वान् स्वीकार करते हैं कि मूल बुद्ध–वचन 'मागधी' में थे और कालान्तर में उनकी भाषा को संस्कारित करके पाली में लिखा गया। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार मागधी और अर्धमागधी में किञ्चित अन्तर है, उसी प्रकार 'मागधी' और 'पाली' में भी किञ्चित अन्तर है, वस्तुतः तो पाली भगवान् बुद्ध की मूल भाषा 'मागधी' का ही एक संस्कारित रूप है। यही कारण है कि कुछ विद्वान् पाली को मागधी का ही एक प्रकार मानते हैं, दोनों में बहुत अन्तर नहीं है। पाली भाषा संस्कृत और मागधी की मध्यवर्ती भाषा है या मागधी का ही एक साहित्यिक रूप है। यह तो प्रमाण–सिद्ध है कि भगवान् बुद्ध ने मागधी में ही अपने उपदेश दिए थे, क्योंकि उनकी जन्मस्थली और कार्यस्थली–दोनों मगध और उसका निकटवर्ती प्रदेश ही था। बौद्ध विद्वानों का स्पष्ट मन्तव्य है कि मागधी ही बुद्ध–वचन की मूल भाषा है। इस सम्बन्ध में बुद्धघोष का निम्न कथन सबसे बड़ा प्रमाण है–

सा मागधी मूलभाषा नरायाय आदिकप्पिका।
ब्रह्मणी च अस्सुतालापा संबुद्धा चापि भासरे।।

अर्थात्, मागधी ही मूल भाषा है, जो सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुई थी और न केवल ब्रह्मा (देवता), अपितु बालक और बुद्ध (संबुद्ध महापुरुष) भी इसी भाषा में बोलते हैं। (See-The preface to the Childer's Pali Dictionary)।

इससे यही फलित होता है कि मूल बुद्ध-वचन मागधी प्राकृत भाषा में थे। पाली उसी मागधी का संस्कारित साहित्यिक रूप है, जिसमें कालान्तर में बुद्ध-वचन लिखे गये। वस्तुतः पाली के रूप में मागधी का एक ऐसा संस्करण तैयार किया गया, जिसे संस्कृत के विद्वान् और भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोग भी आसानी से समझ सकें। अतः, बुद्ध-वचन मूलतः मागधी में थे, न कि शौरसेनी में। बौद्ध-त्रिपिटक की पाली और जैन आगमों की अर्धमागधी में कितना साम्य है, यह तो 'सुत्तनिपात' और 'इसिभासियाइं' के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। प्राचीन पाली ग्रन्थों की एवं प्राचीन अर्धमागधी आगमों की भाषा में अधिक दूरी नहीं है। जिस समय अर्धमागधी और पाली में ग्रन्थ रचना हो रही थी, उस समय तक शौरसेनी एक बोली थी, न कि एक साहित्यिक भाषा। साहित्यिक भाषा के रूप में उसका जन्म तो ईसा की दूसरी शताब्दी के बाद ही हुआ है। संस्कृत के पश्चात् सर्वप्रथम साहित्यिक भाषा के रूप में यदि कोई भाषा विकसित हुई है, तो वे अर्धमागधी एवं पाली ही हैं, न कि शौरसेनी। शौरसेनी का कोई भी ग्रन्थ या नाटकों के अंश ईसा की दूसरी-तीसरी शती से पूर्व का नहीं है जबकि पाली त्रिपिटक और अर्धमागधी आगम साहित्य के अनेक ग्रन्थ ई.पू. तीसरी-चौथी शती में निर्मित हो चुके थे।

'प्रकृतिः शौरसेनी' का सम्यक् अर्थ

जो विद्वान् मागधी या अर्धमागधी को शौरसेनी से परवर्ती एवं उसी से विकसित मानते हैं, वे अपने कथन का आधार वररूचि (लगभग 7वीं शती) के प्राकृत-प्रकाश और हेमचन्द्र (लगभग 12वीं शताब्दी) के प्राकृत-व्याकरण के निम्न सूत्रों को बनाते हैं-

अ. 1. प्रकृतिः शौरसेनी (10/2)

अस्याःपैशाच्याःप्रकृतिःशौरसेनी। स्थितायां शौरसेन्यां पैशाची-लक्षणं प्रवर्तत्तितव्यम्।

2. प्रकृतिः शौरसेनी (11/2)

अस्याः मागध्याः प्रकृतिः शौरसेनीति वेदीतव्यम्।

–वररूचिकृत 'प्राकृतप्रकाश'

ब. 1. शेषं शौरसेनीवत् (8/4/302)

मागध्यां यदुक्तं, ततोअन्यच्छौरसेनीवद् द्रष्टव्यम्।

2. शेषं शौरसेनीवत् (8/4/323)

पैशाच्यां यदुक्तं, ततो अन्यच्छेषं पैशाच्यां शौरसेनीवद् भवति।

3. शौरसेनीवत् (8/4/446)

अपभ्रंशे प्रायः शौरसेनीवत् कार्यं भवति।

अपभ्रंशभाषायां प्रायः शौरसेनीभाषातुल्यं कार्यं जायते; शौरसेनी भाषायाः ये नियमाः सन्ति तेषां प्रवृत्तिरपभ्रंशभाषायामपि जायते।

–हेमचन्द्रकृत 'प्राकृत व्याकरण'

अतः, इस प्रसंग में यह आवश्यक है कि हम सर्वप्रथम इन सूत्रों में 'प्रकृति' शब्द का वास्तविक तात्पर्य क्या है, इसे समझें। यदि हम यहाँ प्रकृति का अर्थ उद्भव का कारण मानते हैं, तो निश्चित ही इन सूत्रों से यह फलित होता है कि मागधी या पैशाची का उद्भव शौरसेनी से हुआ; किन्तु शौरसेनी को एकमात्र प्राचीन भाषा मानने वाले, मागधी और पैशाची को उससे उद्धृत क्यों नहीं कहते, जिसमें शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत बताई गई है। यथा–'शौरसेनी–12/1, टीका–शूरसेनानां भाषा शौरसेनी सा च लक्ष्य–लक्षणाभ्यां स्फुटीक्रियते इत्यवगन्तव्यम्। अधिकारसूत्रमेतदापरिच्छेद समाप्तेः–12/1 प्रकृतिः संस्कृतम्–12/2; टीका–शौरसेन्यां ये शब्दास्तेषां प्रकृतिः संस्कृतम्।–प्राकृतप्रकाश 12/2'। अतः, उक्त सूत्र के आधार पर हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि शौरसेनी प्राकृत संस्कृत भाषा से उत्पन्न हुई है। इस प्रकार, 'प्रकृति' का अर्थ उद्गम–स्थल करने पर उसी 'प्राकृत प्रकाश' के आधार पर यह भी मानना होगा कि मूल भाषा संस्कृत थी और उसी में से शौरसेनी उत्पन्न हुई। क्या शौरसेनी के पक्षधर इस सत्य को स्वीकार करने को तैयार हैं? भाई सुदीपजी, जो शौरसेनी के पक्षधर हैं और 'प्रकृतिः शौरसेनी' के आधार पर मागधी को शौरसेनी से उत्पन्न बताते हैं, वे स्वयं भी 'प्रकृतिः संस्कृतम्–प्राकृत प्रकाश–12/2' के आधार पर यह मानने को तैयार क्यों नहीं कि 'प्रकृति' का

अर्थ, उससे उत्पन्न हुई ऐसा है। वे स्वयं लिखते हैं, 'आज जितने भी प्राकृत व्याकरणशास्त्र उपलब्ध हैं, वे सभी संस्कृत भाषा में हैं एवं संस्कृत व्याकरण के मॉडल पर निर्मित हैं, अतएव उनमें 'प्रकृतिः संस्कृतम्' जैसे प्रयोग देखकर कतिपय जन ऐसा भ्रम करने लगते हैं कि प्राकृत भाषा संस्कृत भाषा से उत्पन्न हुई हो–ऐसा अर्थ कदापि नहीं है– प्राकृतविद्या, जुलाई–सितम्बर 1996, पृ.14। भाई सुदीपजी ! जब शौरसेनी की बारी आती है, तब आप 'प्रकृति' का अर्थ 'आधार/मॉडल' करें और जब मागधी का प्रश्न आये तब आप 'प्रकृति शौरसेनी' का अर्थ, मागधी शौरसेनी से उत्पन्न हुई–ऐसा करें, यह दोहरा मापदण्ड क्यों? क्या केवल शौरसेनी को प्राचीन और मागधी को अर्वाचीन बताने के लिए। वस्तुतः, प्राकृत और संस्कृत शब्द स्वयं ही इस बात के प्रमाण हैं कि उनमें मूलभाषा कौनसी है?

संस्कृत शब्द स्वयं इस बात का सूचक है कि संस्कृत स्वाभाविक या मूल भाषा न होकर एक संस्कारित कृत्रिम भाषा है। प्राकृत शब्दों एवं शब्दरूपों का व्याकरण द्वारा संस्कार करके जो भाषा निर्मित होती है, उसे ही संस्कृत कहा जा सकता है और जिसे संस्कारित न किया गया हो, वह संस्कृत कैसे होगी? वस्तुतः, प्राकृत स्वाभाविक या सहज बोली है और उसी को संस्कारित करके संस्कृत भाषा निर्मित हुई है। इस दृष्टि से प्राकृत मूल भाषा है और संस्कृत उससे उद्भूत हुई है।

हेमचन्द्राचार्य के पूर्व नमिसाधु ने रुद्रट के 'काव्यालंकार' की टीका में प्राकृत और संस्कृत शब्द का अर्थ स्पष्ट कर दिया है। वे लिखते हैं–

सकलजगज्जन्तुनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। आरिसवयणे सिद्धं, देवाणं अद्धमागहा वाणी इत्यादि, वचनाद्वा प्राक् पूर्वकृतं प्राकृतम्, बालमहिलासुबोध–सकलभाषा–निन्धनभूत–वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कार–करणात् च समासादित–विशेषं सत् संस्कृतादुत्तरभेदोनाम्नोंति।–काव्यालङ्कार, नमिसाधु 2/12.

अर्थात्, जो संसार के प्राणियों का व्याकरण आदि के संस्कार से रहित सहज वचन–व्यापार है, उससे निःसृत भाषा प्राकृत है, जो बालक, महिला आदि के लिए भी सुबोध है और पूर्व में निर्मित होने से (प्राक् कृत) सभी भाषाओं की रचना का आधार है, वह तो मेघ से निर्मुक्त जल की तरह सहज है, उसी का देश–प्रदेश के आधार पर किया

गया संस्कारित रूप संस्कृत और उसके भेद अर्थात् विभिन्न साहित्यिक प्राकृतें हैं। सत्य यह है कि बोली के रूप में तो प्राकृतें ही प्राचीन हैं और संस्कृत उनका संस्कारित रूप है, वस्तुतः, संस्कृत विभिन्न प्राकृत बोलियों के बीच सेतु का काम करने वाली एक सामान्य साहित्यिक भाषा के रूप में अस्तित्व में आयी।

यदि हम भाषा विकास की दृष्टि से इस प्रश्न पर चर्चा करें, तो भी यह स्पष्ट है कि संस्कृत सुपरिमार्जित , सुव्यवस्थित और व्याकरण के आधार पर सुनिबद्ध भाषा हैं। यदि हम यह मानते हैं कि संस्कृत से प्राकृतें निर्मित हुई हैं, तो हमें यह भी मानना होगा कि मानवजाति अपने आदिकाल में व्याकरणशास्त्र के नियमों से संस्कारित संस्कृत भाषा बोलती थी और उसी से वह अपभ्रष्ट होकर शौरसेनी और शौरसेनी से अपभ्रष्ट होकर मागधी, पैशाची, अपभ्रंश आदि भाषाएं निर्मित हुईं। इसका अर्थ यह भी होगा कि मानव जाति की मूल भाषा अर्थात् संस्कृत से अपभ्रष्ट होते-होते ही विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ; किन्तु मानव जाति और मानवीय संस्कृति के विकास का वैज्ञानिक इतिहास इस बात को कभी भी स्वीकार नहीं करेगा।

वह तो यही मानता है कि मानवीय बोलियों के संस्कार द्वारा ही विभिन्न साहित्यिक भाषाएं अस्तित्व में आईं, अर्थात् विभिन्न बोलियों से ही विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ है। वस्तुतः इस विवाद के मूल में साहित्यिक भाषा और लोकभाषा अर्थात् बोली के अन्तर को नहीं समझ पाना है। वस्तुतः, प्राकृतें अपने मूल स्वरूप में भाषाएँ न होकर बोलियाँ रही हैं। यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्राकृत कोई एक बोली नहीं, अपितु बोली समूह का नाम है। जिस प्रकार प्रारम्भ में विभिन्न प्राकृतों अर्थात् बोलियों को संस्कारित करके एक सामान्य वैदिक भाषा का निर्माण हुआ, उसी प्रकार कालक्रम में विभिन्न बोलियों को अलग-अलग रूप से संस्कारित करके उनसे विभिन्न साहित्यिक प्राकृतों का निर्माण हुआ, अतः यह एक सुनिश्चित सत्य है कि बोली के रूप में प्राकृतें मूल एवं प्राचीन हैं और उन्हीं से संस्कृत का विकास एक सर्वसाधारण भाषा के रूप में हुआ। प्राकृतें बोलियां हैं और संस्कृत भाषा है। बोली को व्याकरण से संस्कारित करके एकरूपता देने से भाषा का विकास होता है। भाषा से बोली का विकास नहीं होता है। विभिन्न प्राकृत बोलियों को आगे चलकर व्याकरण के नियमों से संस्कारित किया गया, तो उनसे विभिन्न सामान्यतः साहित्यिक प्राकृतों (भाषाओं) का जन्म हुआ, जैसे मागधी बोली से मागधी

प्राकृत का, शौरसेनी बोली से शौरसेनी प्राकृत का और महाराष्ट्र की बोली से महाराष्ट्र प्राकृत का विकास हुआ। प्राकृत के मागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि भेद तत्-तत् प्रदेशों की बोलियों से उत्पन्न हुए हैं, न कि किसी प्राकृत-विशेष से। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि कोई भी प्राकृत व्याकरण सातवीं शती से पूर्व का उपलब्ध नहीं है, साथ ही साथ उनमें प्रत्येक प्राकृत के लिए अलग-अलग मॉडल अपनाये गये हैं। वररूचि के लिए शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत है, जबकि हेमचन्द्र के लिए शौरसेनी की प्रकृति (महाराष्ट्री) प्राकृत है, अतः 'प्रकृति' का अर्थ आदर्श या मॉडल है, अन्यथा हेमचन्द्र के शौरसेनी के सम्बन्ध में 'शेषं प्राकृतवत्' (8/4/286) का अर्थ होगा-शौरसेनी महाराष्ट्री से उत्पन्न हुई, जो शौरसेनी के पक्षधरों को कदापि मान्य नहीं होगा।

क्या अर्धमागधी आगम मूलतः शौरसेनी में थे?

प्राकृतविद्या, जनवरी-मार्च 1996 के सम्पादकीय में डॉ.सुदीपजी जैन ने प्रो. टाँटिया को यह कहते हुए प्रस्तुत किया है कि 'श्वेताम्बर जैन साहित्य का भी प्राचीन रूप शौरसेनी प्राकृतमय ही था, जिसका स्वरूप क्रमशः अर्धमागधी के रूप में बदल गया।' इस संदर्भ में हमारा प्रश्न यह है कि यदि प्राचीन श्वेताम्बर आगम साहित्य शौरसेनी प्राकृत में था, तो फिर वर्त्तमान उपलब्ध पाठों में कहीं भी शौरसेनी की मुख्य विशेषता मध्यवर्ती असंयुक्त 'त्' के स्थान पर 'द्' का प्रभाव तो दिखायी देता। इसके विपरीत, हम पाते हैं कि दिगम्बर-परम्परा में मान्य शौरसेनी आगम साहित्य पर अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत का व्यापक प्रभाव है और इस तथ्य की सप्रमाण चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में दिगम्बर-परम्परा के शीर्षस्थ विद्वान् प्रो.ए.एन.उपाध्ये का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि 'प्रवचनसार' की भाषा पर श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी भाषा का पर्याप्त प्रभाव है और अर्धमागधी भाषा की अनेक विशेषताएँ उत्तराधिकार के रूप में इस ग्रन्थ को प्राप्त हुई हैं। इसमें स्वर परिवर्तन, मध्यवर्ती व्यंजनों के परिवर्तन 'य्' श्रुति इत्यादि अर्धमागधी भाषा के समान ही मिलते हैं। दूसरे वरिष्ठ दिगम्बर परम्परा के विद्वान् प्रो.खडबडी का कहना है कि षट्खण्डागम की भाषा शुद्ध शौरसेनी नहीं है। इस प्रकार, यहाँ एक ओर दिगम्बर विद्वान् इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर रहे हैं कि दिगम्बर आगमों पर श्वेताम्बर आगम शौरसेनी से अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए, अपितु इससे तो यही फलित होता है कि अर्धमागधी आगम ही शौरसेनी में रूपान्तरित हुए हैं। पुनः, अर्धमागधी भाषा के

स्वरूप के संबंध में दिगम्बर विद्वानों में जो भ्रान्ति प्रचलित रही है उसका स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। सम्भवतः, ये विद्वान अर्धमागधी और महाराष्ट्री के अन्तर को स्पष्टरूप से नहीं समझ पाये हैं तथा सामान्यतः अर्धमागधी और महाराष्ट्री को पर्यायवाची मानकर ही चलते रहे हैं। यही कारण है कि डॉ.उपाध्ये जैसे विद्वान् भी 'य्' श्रुति को अर्धमागधी का लक्षण बताते हैं, जबकि वह मूलतः महाराष्ट्री प्राकृत का लक्षण है, न कि अर्धमागधी का। अर्धमागधी में तो मध्यवर्ती 'त्' यथावत् रहता है।

यह सत्य है कि श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी भाषा में कालक्रम से परिवर्तन हुए हैं और उस पर महाराष्ट्री प्राकृत की 'य्' श्रुति का प्रभाव आया है; किन्तु यह मानना पूर्णतः मिथ्या है कि श्वेताम्बर आगमों का शौरसेनी से अर्धमागधी में रूपान्तरण हुआ है। वास्तविकता यह है कि अर्धमागधी आगम ही माथुरी और वल्लभी वाचनाओं के समय क्रमशः शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतों से प्रभावित हुए हैं।

टॉटियाजी जैसे विद्वान् इस प्रकार की मिथ्या धारणा को प्रतिपादित करें कि शौरसेनी आगम ही अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए हैं, यह विश्वसनीय नहीं लगता है। यदि टॉटियाजी का यह कथन कि 'पाली त्रिपिटक और अर्धमागधी आगम मूलतः शौरसेनी में थे और फिर पाली और अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए' यह यदि सत्य है तो उन्हें या सुदीपजी को इसके प्रमाण प्रस्तुत करने चाहिए।

वस्तुतः, जब किसी बोली को साहित्यिक भाषा का स्वरूप दिया जाता है, तो एकरूपता के लिए नियम या व्यवस्था आवश्यक होती है और ये नियम भाषा के व्याकरण के द्वारा बनाये जाते हैं। विभिन्न प्राकृतों को जब साहित्यिक भाषा का रूप दिया गया तो उनके लिए भी व्याकरण के नियम आवश्यक हुए और ये व्याकरण के नियम मुख्यतः संस्कृत से गृहीत किए गए। जब व्याकरणशास्त्र में किसी भाषा की प्रकृति बतायी जाती है, तब वहाँ तात्पर्य होता है कि उस भाषा के व्याकरण के नियमों का मूल आदर्श किस भाषा के शब्द रूप माने गये हैं? उदाहरण के तौर पर, जब हम शौरसेनी के व्याकरण की चर्चा करते हैं, तो हम यह मानते हैं कि उसके व्याकरण का आदर्श, अपनी कुछ विशेषताओं को छोड़कर जिसकी चर्चा उस भाषा के व्याकरण में होती है, संस्कृत के शब्दरूप हैं।

किसी भी भाषा का जन्म बोली के रूप में पहले होता है, फिर बोली से साहित्यिक भाषा का जन्म होता है, जब साहित्यिक भाषा बन जाती है तब उसके लिए व्याकरण के

नियम बनाये जाते हैं और ये व्याकरण के नियम जिस भाषा के शब्दरूपों के आधार पर होते हैं, उस भाषा के शब्दरूपों को समझाते हैं। वे ही उसकी प्रकृति कहलाते हैं। यह सत्य है कि बोली का जन्म पहले होता है, व्याकरण उसके बाद बनता है। शौरसेनी अथवा प्राकृत की 'प्रकृति' संस्कृत मानने का अर्थ इतना ही है कि इन भाषाओं के जो भी व्याकरण बने हैं, वे संस्कृत शब्दरूपों के आधार पर बने हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्राकृत का कोई भी व्याकरण प्राकृत के लिखने या बोलने वालों के लिये नहीं बनाया गया, अपितु उनके लिए बनाया गया, जो संस्कृत में लिखते या बोलते थे। यदि हमें किसी संस्कृत के जानकार व्यक्ति को प्राकृत के शब्द या शब्दरूपों को समझाना हो, तो तदर्थ उसका आधार संस्कृत को ही बनाना होगा और उसी के आधार पर यह समझाना होगा कि प्राकृत का कौनसा शब्दरूप संस्कृत के किसी शब्द से कैसे निष्पन्न हुआ है?

इसलिए, जो भी प्राकृत व्याकरण निर्मित किये गए, वे अपरिहार्य रूप से संस्कृत शब्दों या शब्दरूपों को आधार मानकर प्राकृत शब्द या शब्द-रूपों की व्याख्या करते हैं और संस्कृत को प्राकृत की 'प्रकृति' कहने का इतना ही तात्पर्य है। इसी प्रकार, जब मागधी, पैशाची या अपभ्रंश की 'प्रकृति' शौरसेनी कहा जाता है, तो उसका तात्पर्य यही होता है कि प्रस्तुत व्याकरण के नियमों में इन भाषाओं के शब्दरूपों को शौरसेनी शब्दों को आधार मानकर समझाया गया है। 'प्राकृतप्रकाश' की टीका में वररूचि ने स्पष्टतः लिखा है- शौरसेन्या ये शब्दास्तेषां प्रकृतिः संस्कृतम् (12/2), अर्थात् शौरसेनी के जो शब्द हैं, उनकी प्रकृति या आधार संस्कृत शब्द हैं।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्राकृतों में तीन प्रकार के शब्दरूप मिलते हैं-तद्भव, तत्सम और देशज। देशज शब्द वे हैं, जो किसी देश-विशेष में किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त रहे हैं। इनके अर्थ की व्याख्या के लिए व्याकरण की कोई आवश्यकता नहीं होती है। तद्भव शब्द वे हैं, जो संस्कृत शब्दों से निर्मित हैं, जबकि संस्कृत के समान शब्द तत्सम कहलाते हैं। संस्कृत व्याकरण में दो शब्द प्रसिद्ध हैं- प्रकृति और प्रत्यय। इनमें मूल शब्दरूप को प्रकृति कहा जाता है। मूल शब्द से जो शब्दरूप बना है, वह तद्भव है। प्राकृत व्याकरण संस्कृत शब्द से प्राकृत का तद्भव शब्दरूप कैसे बना है, इसकी व्याख्या करता है। अतः, यहाँ संस्कृत को 'प्रकृति' कहने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि तद्भव शब्दों के संदर्भ में संस्कृत शब्द को आदर्श मानकर या मॉडल मानकर यह व्याकरण लिखा

है, अतः प्रकृति का अर्थ आदर्श या मॉडल या आधार है। संस्कृत शब्दरूप को मॉडल/आदर्श मानना इसलिए आवश्यक था कि संस्कृत के जानकार विद्वानों को दृष्टि में रखकर या उनके लिए ही प्राकृत व्याकरण लिखे गये थे। जब डॉ.सुदीपजी शौरसेनी के सन्दर्भ में 'प्रकृतिः संस्कृतम्' का अर्थ मॉडल या आदर्श करते हैं, तो उन्हें मागधी, पैशाची आदि के सन्दर्भ में 'प्रकृतिः शौरसेनी' का अर्थ भी यही करना चाहिए कि शौरसेनी का मॉडल या आदर्श मानकर इनका व्याकरण लिखा है– इससे यह सिद्ध नहीं होता हैं कि मागधी आदि प्राकृतों की उत्पत्ति शौरसेनी से हुई है। हेमचन्द्राचार्य ने महाराष्ट्री प्राकृत को आधार मानकर शौरसेनी, मागधी आदि प्राकृतों को समझाया है, अतः इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि महाराष्ट्री प्राकृत प्राचीन है या महाराष्ट्री से मागधी, शौरसेनी आदि उत्पन्न हुई हैं।

प्राचीन कौन? अर्धमागधी या शौरसेनी

इस सन्दर्भ में टाँटियाजी के नाम से यह भी प्रतिपादित किया गया है कि 'यदि वर्त्तमान अर्धमागधी आगम साहित्य को ही मूल आगम साहित्य मानने पर जोर देंगे, तो इस अर्धमागधी भाषा का आज से 1500 वर्ष पहले अस्तित्व ही नहीं होने से इस स्थिति में हमें अपने आगम साहित्य को ही 500 ई. से परवर्ती मानना पड़ेगा।'ज्ञातव्य है कि यहाँ महाराष्ट्री और अर्धमागधी के अन्तर को न समझते हुए एक भ्रान्ति को खड़ा किया गया है। सर्वप्रथम तो यह समझ लेना चाहिए कि आगमों के प्राचीन अर्धमागधी के 'त्' मध्यवर्ती प्रधान पाठ चूर्णियों और अनेक प्राचीन प्रतियों में आज भी मिल रहे हैं, उससे निःसन्देह यह सिद्ध होता है कि मूल अर्धमागधी में मध्यवर्ती 'त्' रहता था और उसमें लोप की प्रवृत्ति नगण्य ही थी और यह अर्धमागधी भाषा शौरसेनी और महाराष्ट्री से प्राचीन भी है। यदि श्वेताम्बर आगम शौरसेनी से महाराष्ट्री (जिसे दिगम्बर विद्वान् भ्रान्ति से अर्धमागधी कह रहे हैं) में बदले गये, तो फिर उनकी प्राचीन प्रतियों में मध्यवर्ती 'त्' के स्थान पर 'द्' कार प्रधान पाठ क्यों उपलब्ध नहीं हो रहे हैं', जो शौरसेनी की विशेषता है। इस प्रसंग में डॉ.टाँटियाजी के नाम से यह भी कहा गया है कि आज भी 'आचाराङ्गसूत्र' आदि की प्राचीन प्रतियों में शौरसेनी के शब्दों की प्रचुरता मिलती है। मैं आदरणीय टाँटियाजी से और भाई सुदीपजी से साग्रह निवेदन करूँगा कि वे आचाराङ्ग, ऋषिभाषित, सूत्रकृताङ्ग आदि की किन्हीं भी प्राचीन प्रतियों में मध्यवर्ती 'त्' के स्थान पर 'द्' पाठ दिखला दें।

प्राचीन प्रतियों में जो पाठ मिल रहे हैं, वे अर्धमागधी या आर्ष प्राकृत के हैं, न कि शौरसेनी के। यह एक अलग बात है कि कुछ शब्दरूप आर्ष अर्धमागधी और शौरसेनी में समान रूप में मिलते हैं।

वस्तुतः, इन प्राचीन प्रतियों में न तो मध्यवर्ती 'त्' का 'द्' देखा जाता है और नहीं 'न्' के स्थान पर 'ण्' की प्रवृत्ति देखी जाती है, जिसे व्याकरण में शौरसेनी की विशेषता कहा जाता है। सत्य तो यह है कि अर्धमागधी आगमों का ही शौरसेनी रूपान्तरण हुआ है, न कि शौरसेनी आगमों का अर्धमागधी रूपान्तरण। यह सत्य है कि न केवल अर्धमागधी आगमों पर, अपितु शौरसेनी के आगमतुल्य कुन्दकुन्द आदि के ग्रन्थों पर भी महाराष्ट्री की 'य' श्रुति का स्पष्ट प्रभाव है, जिसे हम पूर्व में सिद्ध कर चुके हैं।

क्या पन्द्रह सौ वर्षों पूर्व अर्धमागधी भाषा एवं श्वेताम्बर अर्धमागधी आगमों का अस्तित्व ही नहीं था?

डॉ. सुदीपजी द्वारा टॉटियाजी के नाम से उद्धृत यह कथन कि '1500 वर्ष पहले अर्धमागधी भाषा का अस्तित्व ही नहीं था,' पूर्णतः भ्रान्त है। आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, ऋषिभाषित जैसे आगमों को पाश्चात्य विद्वानों ने एक स्वर से ई.पू. तीसरी-चौथी शताब्दी या उससे भी पूर्वकाल का माना है। क्या उस समय ये आगम अर्धमागधी भाषा में निबद्ध न होकर शौरसेनी में निबद्ध थे? ज्ञातव्य है कि मध्यवर्ती 'त्' के स्थान पर 'द्' और 'ण्'कार की प्रवृत्ति वाली शौरसेनी का जन्म तो उस समय हुआ ही नहीं था, अन्यथा अशोक और मथुरा (जो शौरसेनी की जन्मभूमि है) के अभिलेखों में कहीं तो इस शौरसेनी वैशिष्ट्य वाले शब्दरूप उपलब्ध होना चाहिए थे। क्या शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध ऐसा एक भी ग्रन्थ है, जो ई.पू. में लिखा गया हो? सत्य तो यह है कि भास (ईसा की दूसरी शती) के नाटकों के अतिरिक्त ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी के पूर्व शौरसेनी में निबद्ध एक भी ग्रन्थ नहीं था। इससे प्रतिकूल मागधी और अर्धमागधी के अभिलेख ई.पू. तीसरी शताब्दी से उपलब्ध हो रहे हैं। पुनः, यदि ये लोग जिसे अर्धमागधी कह रहे हैं, उसे महाराष्ट्री मान लें, तो उसके भी ग्रन्थ ईसा की प्राथमिक शताब्दियों के उपलब्ध होते हैं। सातवाहन काल की गाथासप्तशती महाराष्ट्री प्राकृत का प्राचीन ग्रन्थ है, साथ ही यह माना जाता है कि यह ईसा की प्रथम से तीसरी शती के मध्य तक रचित है। पुनः, यह भी एक संकलन ग्रन्थ है, जिसमें अनेक ग्रन्थों से गाथाएँ संकलित की गई हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इसके पूर्व

भी महाराष्ट्री प्राकृत में ग्रन्थ रचे गए थे। कालिदास के नाटकों, जिनमें भी शौरसेनी का प्राचीनतम रूप मिलता है, वे भी ईसा की चतुर्थ शताब्दी के बाद के ही माने जाते हैं। कुन्दकुन्द के ग्रन्थ स्पष्ट रूप से न केवल अर्धमागधी आगमों से, अपितु परवर्ती 'य्' श्रुति प्रधान महाराष्ट्री से भी प्रभावित हैं, किसी भी स्थिति में ईसा की पाँचवी-छठवीं शताब्दी के पूर्व के सिद्ध नहीं होते हैं। षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में गुणस्थान, सप्तभंगी आदि लगभग 5वीं शती में निर्मित अवधारणाओं की उपस्थिति उन्हें श्वेताम्बर आगमों और उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र (लगभग चतुर्थ शती) से परवर्ती ही सिद्ध करती हैं, क्योंकि अर्धमागधी आगमों में ये अवधारणाएं अनुपस्थित हैं। इस सम्बन्ध में मैंने अपने ग्रन्थ 'गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण' और 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' में विस्तार से प्रकाश डाला है। अन्ततोगत्वा यही सिद्ध होता है कि अर्धमागधी भाषा या अर्धमागधी आगम नहीं, अपितु शौरसेनी भाषा ईसा की दूसरी शती के पश्चात् और शौरसेनी आगम ईसा की 5 वीं शती के पश्चात् अस्तित्व में आये। अच्छा होगा कि भाई सुदीपजी पहल मागधी और पाली तथा अर्धमागधी और महाराष्ट्री के अन्तर को एवं इनके प्रत्येक के लक्षणों को तथा जैन आगमिक साहित्य के ग्रन्थों के कालक्रम को और जैन इतिहास को तटस्थ दृष्टि से समझ लें और फिर प्रमाण सहित अपनी कलम निर्भीक रूप से चलाएँ, व्यर्थ की आधारहीन भ्रान्तियाँ खड़ी करके समाज में कटुता उत्पन्न न करें।

***

5 प्राकृत विद्या में प्रो. टाँटियाजी के नाम से प्रकाशित उनके व्याख्यान के विचारबिन्दुओं की समीक्षा (अर्धमागधी आगम साहित्य कुछ सत्य और तथ्य)

डॉ.सुदीपजी ने प्राकृतविद्या, जुलाई-सितम्बर 1996 में डॉ.टाँटियाजी के व्याख्यान में उभरकर आये 14 विचारबिन्दुओं को अविकल रूप से प्रस्तुत करने का दावा किया है। यहाँ उनकी समीक्षा करना इसलिए अपेक्षित है कि उनके नाम पर प्रसारित भ्रान्तियों का निरसन हो सके। नीचे हम क्रमशः एक-एक बिन्दु की समीक्षा करेंगे।

1. 'प्राचीनकाल में शौरसेनी अखिल भारतीय भाषा थी?'

प्रथम तो उत्तर और दक्षिण के कुछ दिगम्बर विद्वानों द्वारा शौरसेनी के ग्रन्थ लिखे जाने से, अथवा कतिपय नाटकों में मागधी आदि अन्य प्राकृतों के साथ-साथ शौरसेनी के प्रयोग होने से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि शौरसेनी अखिल भारतीय भाषा थी। यदि इन तर्कों के आधार पर एक बार हम यह मान भी लें कि शौरसेनी अखिल भारतीय भाषा थी, तो क्या इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मागधी या महाराष्ट्री प्राकृत अखिल भारतीय भाषाएँ नहीं थीं? प्राचीन काल में तो मागधी ही अखिल भारतीय भाषा थी। यदि शौरसेनी अखिल भारतीय भाषा बनी, तो वह भी मागधी के पश्चात् ही बनी है, क्योंकि अशोक के सम्पूर्ण अभिलेख मुख्यतः मागधी में ही हैं। यह सत्य है कि उन पर तद् तद् प्रदेशों की लोकबोलियों का प्रभाव देखा जाता है, फिर भी उससे मागधी के अखिल भारतीय भाषा में होने में कोई कमी नहीं आती। वास्तविकता तो यह है कि मौर्यकाल और उसके पश्चात्

जब तक सत्ता का केन्द्र पाटलीपुत्र बना रहा, तब तक मागधी ही अखिल भारतीय भाषा रही, क्योंकि वह भारतीय साम्राज्य की राजभाषा थी। जब भारत में कुषाण और शककाल में सत्ता का केन्द्र पाटलीपुत्र से हटकर मथुरा बना, तभी शौरसेनी को राजभाषा का पद मिला। यद्यपि यह भी सन्देहास्पद ही है, क्योंकि ईसा पू. प्रथम शती से ईसा की दूसरी शती तक मथुरा में जो भी अभिलेख मिलते हैं, वे भी मागधी से प्रभावित ही हैं। आज तक भारत में शुद्ध शौरसेनी में एक भी अभिलेख उपलब्ध नहीं हो सका है। अतः केवल दिगम्बर आचार्यों द्वारा शौरसेनी में ग्रन्थ रचे जाने से यह सिद्ध नहीं होता कि वह अखिल भारतीय भाषा थी। क्या दिगम्बर-परम्परा के धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त कोई एक भी ग्रन्थ ऐसा है, जो पूरी तरह शौरसेनी में लिखा गया हो, जबकि अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत में श्वेताम्बर धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये, अतः मागधी एवं महाराष्ट्री प्राकृत को भी उसी रूप में अखिल भारतीय भाषा मानना होगा।

2. 'शौरसेनी प्राकृत सबसे अधिक सौष्ठव व लालित्यपूर्ण सिद्ध हुई',

यह ठीक है कि संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत भाषाओं में लालित्य और माधुर्य है; किन्तु उस लालित्य और माधुर्य का सच्चा आस्वाद तो 'य्' श्रुतिप्रधान महाराष्ट्री प्राकृत में ही मिलता है। केवल नाटकों के कुछ अंश छोड़कर क्या शौरसेनी में निबद्ध एक भी लालित्यपूर्ण साहित्यिक कृति है? इसकी अपेक्षा तो महाराष्ट्री प्राकृत में 'गाथासप्तशती', 'वसुदेवहिण्डी', 'पउमचरियं', 'वज्जालग्गं', 'समराइच्चकहा', 'धूर्त्ताख्यान' आदि अनेकों साहित्यिक कृतियाँ हैं, अतः यह मानना होगा कि शौरसेनी की अपेक्षा भी महाराष्ट्री अधिक लालित्यपूर्ण भाषा है। क्या उपर्युक्त महाराष्ट्री के ग्रन्थों की कोटि का शौरसेनी में एक भी ग्रन्थ है? पुनः, जहाँ शौरसेनी में नाटकों के कुछ अंशों के अतिरिक्त मुख्यतः धार्मिक साहित्य ही रचा गया, वहाँ महाराष्ट्री प्राकृत में अनेक विधाओं के ग्रन्थ रचे गये और न केवल जैनों ने, अपितु जैनेतर लोगों ने भी महाराष्ट्री प्राकृत में ग्रन्थ लिखे हैं।

जहाँ तक माधुर्य का प्रश्न है 'द्'कार प्रधान और अघोष के घोष प्रयोग-होदि आदि के कारण शौरसेनी में वह माधुर्य नहीं है, जो मध्यवर्ती कठोर व्यञ्जनों के लोप, 'य्' श्रुतिप्रधान मधुर व्यञ्जनों से युक्त महाराष्ट्री में है। शौरसेनी और पैशाची तो 'संस्कृत की अपेक्षा मधुर नहीं हैं, जो माधुर्य महाराष्ट्री में है, वह संस्कृत और अन्य प्राकृतों में नहीं है। महाराष्ट्री में लोप की प्रवृत्ति अधिक होने से मुखसौकर्य भी अधिक है।'

शौरसेनी प्राकृत का गौरव करना अच्छी बात है, लेकिन उसे ही अधिक सौष्ठवपूर्ण मानकर दूसरी प्राकृतों को उससे नीचा मानने की वृत्ति सत्यान्वेषी विद्वत् पुरुषों को शोभा नहीं देती है।

3. 'बहुत सारी अच्छी बातें अर्धमागधी में नहीं हैं, जबकि शौरसेनी में सुरक्षित हैं, अनेक बातों का स्पष्टीकरण आज शौरसेनी के 'षट्खण्डागम' और 'धवला' से ही करना पड़ता है'.

यह सत्य है कि जैन कर्म-सिद्धान्त की अनेक सूक्ष्म विवेचनाएँ 'षट्खण्डागम' एवं उसकी 'धवला टीका' में सुरक्षित हैं; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अर्धमागधी आगम साहित्य में अच्छी बातें नहीं हैं। शौरसेनी आगम-साहित्य की अपेक्षा अर्धमागधी आगम साहित्य परिमाण में पाँच गुने से अधिक है और उसमें भी अनेक अच्छी बातें निहित हैं। सम्पूर्ण अर्धमागधी और महाराष्ट्री का साहित्य तो शौरसेनी साहित्य की अपेक्षा दस गुने से भी अधिक होगा। अर्धमागधी आगम साहित्य में 'आचाराङ्ग' का एक-एक सूक्त ऐसा है, जो बिन्दु में सिन्धु को समाहित करता है, क्या उसके समकक्ष कोई ग्रन्थ शौरसेनी में है? आज 'आचाराङ्ग' ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें भगवान् महावीर के मूलवचन सुरक्षित हैं। यह सत्य है कि समयसार आत्म-अनात्म विवेक का और 'षट्खण्डागम' तथा उसकी 'धवला टीका' कर्म-सिद्धान्त का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करती हैं; किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अर्धमागधी आगम में सुरक्षित जिनवचनों के आधार पर ही दिगम्बर विद्वानों ने इन सिद्धान्तों का विकास किया है और वे उससे परवर्ती हैं। पुनः, यदि जैन आचार-दर्शन एवं संस्कृति के विकास के इतिहास को समझना है, तो हमें अर्धमागधी साहित्य का ही सहारा लेना पड़ेगा। वे उन नींव के पत्थरों के समान हैं, जिन पर जैन-दर्शन एवं संस्कृति का महल खड़ा हुआ है। नींव की उपेक्षा करके मात्र शिखर को देखने से हम जैनधर्म और सिद्धान्तों के इतिहास को नहीं समझ सकते हैं। पुनः, अर्धमागधी साहित्य में भी 'विशेषावश्यकभाष्य' जैसे गम्भीर दार्शनिक चर्चा करने वाले अनेक ग्रन्थ हैं। पुनः, 'बृहत्कल्पभाष', 'व्यवहारभाष्य', 'निशीथभाष्य' जैसे जैन आचार के उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग की तलस्पर्शी विवेचना करने वाले तथा उसके विकास क्रम को स्पष्ट करने वाले कितने ग्रन्थ शौरसेनी में हैं? जिस धवला टीका का इतना गुणगान किया जा

रहा है, क्या उसकी भी इन ग्रन्थों से कोई तुलना की जा सकती है? पुनः, यह भी नहीं भूलना चाहिए कि, शौरसेनी में निबद्ध 'कसायपाहुड' एवं 'षट्खण्डागम' भी 'भगवतीसूत्र', 'प्रज्ञापना', 'जीवसमास' आदि अर्धमागधी आगमों का ही विकसित एवं परिष्कारित रूप है, क्योंकि ये ग्रन्थ उनसे पूर्ववर्ती हैं। इसी प्रकार 'धवला टीका', जो दसवीं शती की रचना है, वह भी निर्युक्तियों, भाष्यों और चूर्णियों से अप्रभावित नहीं है। पुनः, भाष्यों और चूर्णियां में बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जो शौरसेनी साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं। 'मूलाचार' और 'भगवती आराधना' जैसे शौरसेनी के ग्रन्थरत्न तो 'आतुरप्रत्याख्यान', 'मरणविभक्ति', 'आवश्यकनिर्युक्ति' आदि के आधार पर निर्मित हैं और उनकी सैकड़ों गाथाएँ भाषिक परिवर्तन के साथ इनमें उपलब्ध हैं। अतः, अर्धमागधी और महाराष्ट्री के ग्रन्थों में शौरसेनी की अपेक्षा अनेक गुनी अधिक अच्छी बातें हैं और उनके अभाव में जैनधर्म, दर्शन, संस्कृति और आचार के सम्यक् इतिहास को नहीं समझा जा सकता है।

4-5. 'लाडनूं का हमारा सारा परिवार कहता है कि शौरसेनी को जाने बिना हम अर्धमागधी को नहीं जान सकते; दोनों भाषाओं का ज्ञान परस्पर एक दूसरे पर निर्भर है अतः हमें (दिगम्बर, श्वेताम्बर) को मिल-जुल कर काम करना चाहिए'.

यह सत्य है कि किसी भी प्राचीन भाषा और उसके साहित्य के तलस्पर्शी ज्ञान के लिए उनकी समसामयिक भाषाओं तथा उनके साहित्य और परम्पराओं का ज्ञान अपेक्षित है और इस दृष्टि से आदरणीय टाँटियाजी का यह कथन कि हमारा लाडनूं का सारा परिवार यह कहता है कि शौरसेनी को जाने बिना हम अर्धमागधी को नहीं जान सकते, वह उचित ही है; किन्तु शौरसेनी आगमों पर आधारित दिगम्बर-परम्परा को भी यह नहीं भूलना चाहिए कि वे भी अर्धमागधी आगमों का सम्यक् अध्ययन किये बिना शौरसेनी आगमों के मूल हार्द को नहीं समझ सकते हैं। 'षट्खण्डागम' के प्रथम खण्ड के 93वें सूत्र में 'संजद' पद की उपस्थिति को सम्यक् प्रकार से समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि 'षट्खण्डागम' मूलतः उस यापनीय-परम्परा का ग्रन्थ है, जो अर्धमागधी आगमों और उनमें प्रतिपादित स्त्री-मुक्ति को मानती थी। 'मूलाचार' में 'पज्जुसणाकप्प'

का सही अर्थ क्या है? इसे श्वेताम्बर आगमों के ज्ञान के अभाव में वसुनन्दी जैसे समर्थ दिगम्बर ढीकाकार भी नहीं समझ सके हैं। इसी प्रकार, 'भगवती आराधना' के 'ठवणायरियो' शब्द का अर्थ पं. कैलाशचन्द्रजी जैसे दिगम्बर परम्परा के उद्भट विद्वान् भी नहीं समझ सके और उसे अस्पष्ट कह कर छोड़ दिया, क्योंकि वे श्वेताम्बर आगमों एवं परम्परा से गहराई से परिचित नहीं थे, जबकि अर्धमागधी साहित्य का सामान्य अध्येता भी 'पर्युषणाकल्प' और 'स्थापनाचार्य' के तात्पर्य से सुपरिचित होता है। इसी प्रकार, 'समयसार' के 'अपदेससुत्तमज्झं'का सही अर्थ समझना हो या 'नियमसार' के आत्मा के विवरण को समझना हो, तो आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का अध्ययन करना होगा। अतः, प्राचीन एवं समसामयिक भाषाओं के साहित्य और परम्परा का ज्ञान सभी के लिए अपेक्षित है। यह बात केवल जैनधर्म के दोनों सम्प्रदायों तक ही सीमित नहीं है, अपितु अन्य भारतीय परम्पराओं के सन्दर्भ में भी समझना चाहिए। मैं स्पष्ट रूप से यह मानता हूँ कि बौद्ध पाली त्रिपिटक के अध्ययन के बिना जैन आगमों को और जैन आगमों के बिना त्रिपिटक का अध्ययन पूर्ण नहीं होता है। जैन और बौद्ध परम्पराओं में अनेक शब्द ऐसे हैं, जिनके सही अर्थ एक दूसरे के ज्ञान के बिना सम्यक् रूप से नहीं समझे जा सकते हैं। 'अर्हत्' शब्द के अरहत, अरहंत, अरिहंत, अरुहंत आदि शब्द-रूप पाली और अर्धमागधी में न केवल समान हैं, अपितु उनकी व्युत्पत्तिपरक व्याख्याएँ भी दोनों परम्परा में समान हैं। आज भी जिस प्रकार 'आचाराङ्ग' और 'इसिभासियाइं' जैसे अर्धमागधी आगमों को समझने के लिए बौद्ध और औपनिषदिक परम्पराओं का अध्ययन अपेक्षित है, वैसे ही षट्खण्डागम को समझने के लिए श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ -'प्रज्ञापना', 'पञ्चसंग्रह'- जिसमें 'कसायपाहुड' भी समाहित है, और श्वेताम्बर कर्मग्रन्थों का अध्ययन अपेक्षित है। यदि आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' को समझना है, तो बौद्धों की 'माध्यमिककारिका' अथवा हिन्दुओं की 'माण्डूक्यकारिका' को पढ़ना आवश्यक है। दूसरी परम्परा के ग्रन्थों के अध्ययन का डॉ. टाँटियाजी का अच्छा सुझाव है; किन्तु यह किसी एक परम्परा के लिए नहीं, अपितु दोनों के लिए आवश्यक है। श्वेताम्बर विद्वान् तो शौरसेनी साहित्य का अध्ययन भी करते हैं; किन्तु अधिकांश दिगम्बर विद्वान आज भी अर्धमागधी साहित्य से प्रायः अपरिचित हैं, अतः उन्हें ही इस सुझाव की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

6. 'आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र के बराबर का कोई दार्शनिक आज तक हुआ ही नहीं है'.

यह सत्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र जैनदर्शन में आत्म-अनात्म विवेक को तार्किक रूप से प्रस्तुत करने वाले शिखर पुरुष हैं। उनकी प्रज्ञा निश्चय ही वन्दनीय है। जैन अध्यात्मविद्या के क्षेत्र में उनका जो महत्त्वपूर्ण अवदान है, उसे कभी भी नहीं भुलाया जा सकता है; किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि श्वेताम्बर परम्परा में हुए दार्शनिकों और चिन्तकों का अवदान उनकी अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण है। अनेकान्त की दर्शन जगत् में तार्किक ढंग से स्थापना के क्षेत्र में सिद्धसेन दिवाकर का, समदर्शी दार्शनिक के रूप में आचार्य हरिभद्र का और साहित्य स्रष्टा के रूप में हेमचन्द्राचार्य का जो अवदान है, उसे भी कम नहीं आंका जा सकता है। इनके अतिरिक्त भी मल्लवादी, जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण, संघदासमणि, यशोविजयजी, आनन्दघनजी आदि अनेक शीर्षस्थ दार्शनिक और आध्यात्मिक सत्पुरुष श्वेताम्बर परम्परा में भी हुए हैं। दर्शन-जगत् में इनका महत्त्व और मूल्य कम नहीं है। जिस प्रकार अमृतचन्द्र को अमृतचन्द्र बनाने में कुन्दकुन्द का सबसे बड़ा योगदान है, उसी प्रकार कुन्दकुन्द को कुन्दकुन्द बनाने में भी सिद्धसेन दिवाकर और नागार्जुन जैसे जैन एवं बौद्ध दार्शनिकों का महत्त्वपूर्ण अवदान है। दिगम्बर विद्वानों को इसे भी नहीं भूलना चाहिए कि दिगम्बर समाज को कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र की प्रतिभा से परिचित करवाने वाले बनारसीदास, भैय्या भगवतीदास और कानजीस्वामी मूलतः श्वेताम्बर परम्परा में ही जन्मे थे। कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र को दिगम्बर-परम्परा में सुस्थापित करने वाले श्वेताम्बर कुलोद्भूत इन अध्यात्मरसिकों का ऋण भी दिगम्बर-परम्परा को स्वीकार करना चाहिए।

7. 'श्वेताम्बरों के समस्त आचार्यों का निचोड़ 'धवला' ग्रन्थ में मिल जाता है, इसके जैसा कोई ग्रन्थ है ही नहीं'

भाई सुदीपजी, डॉ.टाँटियाजी के इस कथन का सीधा तात्पर्य तो यह है कि यदि 'धवला' में श्वेताम्बर आचार्यों के विचारों का निचोड़ है, तो वह श्वेताम्बर ग्रन्थों के आधार पर निर्मित हुआ है, इसे भी स्वीकार करना होगा और धवलाकार को श्वेताम्बर आचार्यों का ऋणी भी होना पड़ेगा; लेकिन यह कथन केवल एक अतिशयोक्ति के अलावा कुछ भी

नहीं है, क्योंकि 'धवला' में मुख्यतः तो पूर्ववर्ती श्वेताम्बर-दिगम्बर कर्मग्रन्थों में वर्णित विषय का ही निचोड़ है। इसके अलावा, अधिकतर दार्शनिक एवं विचार सम्बन्धी समस्याएँ तो उसमें केवल सतही (ऊपरी) स्तर पर ही वर्णित हैं। क्या अनेकान्त की स्थापना की दृष्टि से सिद्धसेन दिवाकर के 'सन्मतितर्क' और उसकी टीका में अथवा 'नयचक्र' और सिंहसूरि की उसकी टीका में अथवा 'विशेषावश्यकभाष्य' और उसकी चूर्णी में अथवा 'बृहत्कल्प', 'व्यवहार' और 'निशीथ' के भाष्य एवं चूर्णियों में जैन आचार की गूढ़तम समस्याओं के सन्दर्भ में जो गम्भीर विवेचन है, वह क्या 'धवला' में उपलब्ध है?

एक सामान्यजन को तो ऐसे कथनों से भ्रमित किया जा सकता है; किन्तु उन विद्वानों को, जिन्होंने दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन किया हो, ऐसे अतिशयोक्तिपूर्ण कथनों से भ्रमित नहीं किया जा सकता है। प्रो. टाँटियाजी ने चाहे यह बात दिगम्बर आचार्यों और जनसाधारण को खुश करने की दृष्टि से कह भी दी हो, तो क्या वे अपने इस कथन को अन्तरात्मा से स्वीकार करते हैं?

पुनः यह कथन कि 'धवला जैसा कोई ग्रन्थ है ही नहीं'-यह भी चिन्त्य है। वैसे तो प्रत्येक ग्रन्थ अपनी विषयवस्तु या शैली आदि की अपेक्षा से अपने आप में विशिष्ट होता है, अतः उसकी तुलना किसी अन्य परम्परा के ग्रन्थों से करके उन्हें निकृष्ट ठहरा देना एक निरर्थक प्रयास ही होगा? यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि 'धवला' अपने आप में कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है, वह तो 'षट्खण्डागम' के पाँच खण्डों की टीका है। उसका वैशिष्ट्य केवल कर्म-सिद्धान्त की विवेचना की दृष्टि से ही है। यदि श्वेताम्बर ग्रन्थों को एक ओर छोड़ भी दें, तो क्या 'धवला' और 'समयसार' में कोई तुलना की जा सकती है? दूसरी परम्परा के ग्रन्थों को निम्न कोटि का बताने के लिए इस प्रकार की वाक्यावलियों का प्रयोग उचित नहीं है। क्या टाँटियाजी की दृष्टि में 'भगवतीसूत्र', 'प्रज्ञापना', 'सन्मतितर्क' और उसकी टीका अथवा 'विशेषावश्यकभाष्य' धवला की अपेक्षा निम्न कोटि के ग्रन्थ हैं? किसी भी ग्रन्थ के सापेक्षिक वैशिष्ट्य को स्वीकार करना एक बात है; किन्तु निरपेक्ष रूप से उसे सर्वोपरि घोषित कर देना अनेकान्त के उपासकों के लिए उचित नहीं है।

8. 'शौरसेनी पाली भाषा की जननी है- यह मेरा स्पष्ट चिन्तन है। पहले बौद्धों के

ग्रन्थ शौरसेनी में थे, उनको जला दिया गया और पाली में लिखा गया'

यद्यपि इस कथन की समीक्षा हम पूर्व लेख में कर चुके हैं, फिर भी स्पष्टता के लिए दो-तीन बातें बताना आवश्यक है।

मेरा प्रथम प्रश्न तो यह है कि 'द' कार और 'ण्'कार प्रधान शौरसेनी, जो दिगम्बर आगम ग्रन्थों अथवा नाटकों में मिलती है, वह तो तीसरी शताब्दी के पूर्व कहीं भी उपलब्ध ही नहीं है, जबकि बौद्ध त्रिपिटक पाली भाषा में उसके पूर्व लिखे जा चुके थे। क्या कोई भी परवर्ती भाषा अपनी पूर्ववर्ती भाषा की जननी हो सकती है? क्या आदरणीय टाँटियाजी और सुदीपजी किसी प्राचीन ग्रन्थ का एक भी ऐसा उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं, जिसमें यह कहा गया हो कि शौरसेनी से पाली भाषा का जन्म हुआ? पुनः क्या इस बात का भी कोई प्रमाण है कि पहले बौद्धों के ग्रन्थ शौरसेनी में थे, उनको जला दिया गया और फिर उनको पाली में लिखा गया। आचार्य बुद्धघोष के प्रामाणिक कथन के आधार पर हमें यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बुद्ध-वचन मूलतःमागधी में थे--

सा मागधी मूलभाषा नरायाय आदिकप्पिका।
ब्रह्मणो च अस्सुतालापा संबुद्धा चापि भासरे।।

अतः, यह कहना तो सम्भव है कि मागधी पाली भाषा की जननी है; किन्तु यह कथमपि सम्भव नहीं है कि परवर्ती शौरसेनी पूर्ववर्ती मागधी या पाली भाषा की जननी है--यह तो पौत्री को माता बताने का प्रयास है। यह बात तो बौद्ध विद्वानों ने स्वीकार की है कि जो बुद्ध-वचन पहले मागधी में थे, उन्हें पाली में रूपान्तरित किया गया; किन्तु यह तो किसी ने भी आज तक नहीं कहा कि बुद्ध-वचन पहले शौरसेनी में थे और उन्हें जलाकर फिर पाली में लिखा गया । यदि इस सम्बन्ध में उनके पास कोई प्रमाण हों, तो प्रस्तुत करें। मुझे तो ऐसा लगता है कि आदरणीय टाँटियाजी ने मात्र यह कहा होगा कि प्राकृत (मागधी) पाली भाषा की जननी है और पहले बौद्धों के ग्रन्थ प्राकृत में थे, उनको जला दिया गया और पाली भाषा में लिखा गया है। यहाँ प्राकृत के स्थान पर शौरसेनी शब्द की योजना भाई सुदीपजी ने स्वयं की है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। प्रो. टांटियाजी जैसे बौद्ध विद्या के प्रकाण्ड विद्वान् ऐसी आधारहीन बातें कर सकते हैं- यह विश्वसनीय नहीं लगता है। डॉ.सुदीपजी ने इसमें शब्दों की तोड़-मरोड़ की है। इसका प्रमाण यह है कि प्राकृतविद्या, जनवरी-मार्च 1996 में उन्होंने टाँटियाजी के नाम से लिखा है कि 'बौद्धों ने

बाद में योजनापूर्वक शौरसेनी में निबद्ध बौद्ध साहित्य का मागधीकरण किया और शौरसेनी निबद्ध बौद्ध साहित्य के ग्रन्थों को अग्निसात् कर दिया गया, जबकि प्राकृतविद्या, जुलाई–सितम्बर 1996 में लिखा है कि ' बौद्धों के ग्रन्थ शौरसेनी में थे उनको जला दिया गया और पाली में लिखा गया।' इस प्रकार सुदीपजी टाँटियाजी के नाम से एक जगह लिखते हैं कि बौद्ध ग्रन्थों का मागधीकरण किया गया जबकि दूसरी जगह लिखते हैं कि पाली में लिखा गया– इन दोनों में सच क्या है? टाँटियाजी ने तो कोई एक बात कही होगी। मागधी और पाली दोनों अलग–अलग भाषाएँ हैं। सत्य तो यह है कि बौद्ध साहित्य मागधी से पाली में लिखा गया था न कि शौरसेनी से पाली में। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि सुदीपजी ने टाँटियाजी के शब्दों में तोड़–मरोड़ की है।

9. 'कर्मसिद्धान्त के बहुत से रहस्यों को जब हम (श्वेताम्बर) नहीं समझ पाते हैं, तब हम 'षट्खण्डागम' के सहारे से ही उनको समझते हैं। 'षट्खण्डागम' में कर्म–सिद्धान्त के समस्त कोणों को बड़े वैज्ञानिक ढंग से रखा गया है.'

यह सत्य है कि 'षट्खण्डागम' में जैन कर्मसिद्धान्त का गम्भीर एवं विशद् विवेचन है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि कर्म–सिद्धान्त के रहस्यों को उद्घाटित करने के लिए श्वेताम्बरों को भी कभी–कभी उसका सहारा लेना होता है; किन्तु उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि 'षट्खण्डागम' मूलतः दिगम्बर सम्प्रदाय का ग्रन्थ न होकर उस विलुप्त यापनीय सम्प्रदाय का ग्रन्थ है, जो अर्धमागधी आगमों और उसमें प्रतिपादित स्त्री मुक्ति के सिद्धान्त को मान्य रखता था, जिसका प्रमाण उसके प्रथम खण्ड का 93वाँ सूत्र है, जिसमें से 'संजद' शब्द के प्रयोग को हटाने का दिगम्बर विद्वानां ने उपक्रम भी किया था और प्रथम संस्करण को मुद्रित करते समय उसे हटा भी दिया था, यद्यपि बाद में उसे रखना पड़ा, क्योंकि उसे हटाने पर उस सूत्र की धवला टीका गड़बड़ा जाती थी। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा मैंने अपनी पुस्तक 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' के तृतीय अध्याय में की है और प्रस्तुत प्रसंग में केवल इतना बता देना पर्याप्त है कि यह 'षट्खण्डागम' मूलतः 'प्रज्ञापना' आदि अर्धमागधी आगम साहित्य के आधार पर निर्मित हुआ है और इसके प्रथम खण्ड की 'जीवसमास' की विषयवस्तु से बहुत कुछ समरूपता है और दोनों एक ही काल की कृतियाँ हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन 'जीवसमास' की भूमिका में किया गया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि 'षट्खण्डागम' में प्रतिपादित जैन

कर्म-सिद्धान्त के इतिहास को समझने के लिए अर्धमागधी आगमों एवं श्वेताम्बर कर्म साहित्य का अध्ययन भी उतना ही जरूरी है, जितना 'षट्खण्डागम' का। मैं स्वयं भी जैन कर्म-सिद्धान्त के विकसित स्वरूप के गम्भीर विवेचन की दृष्टि से 'षट्खण्डागम' के मूल्य और महत्त्व को स्वीकार करता हूँ; किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि अर्धमागधी आगमों एवं श्वेताम्बर आचार्यों द्वारा प्रणीत प्राचीन कर्म-साहित्य को नकार दिया जावे।

10. 'हरिभद्रसूरि का सारा 'योगशतक' धवला से है। 'धवला' समस्त जैन दर्शन और ज्ञान का अगाध भण्डार है। 'धवला' में क्या नहीं है?'

हरिभद्रसूरि का सारा 'योगशतक' धवला से है- इस कथन का अर्थ यह है कि हरिभद्र ने 'योगशतक' को 'धवला' से लिया है। यह विश्वास नहीं होता कि टाँटियाजी जैसे प्रौढ़ विद्वान् को जैन इतिहास का इतना भी बोध नहीं है कि 'धवला' और हरिभद्र के 'योगशतक' में कौन प्राचीन है? अनेक प्रमाणों से यह सुस्थापित हो चुका है कि 'धवला' की रचना नौवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुई, जबकि हरिभद्र आठवीं शताब्दी के विद्वान हैं। सत्य तो यह है कि हरिभद्रसूरि के 'योगशतक' से धवलाकार ने लिया है, अतः टाँटियाजी जैसे विद्वान् के नाम से ऐतिहासिक सत्य को भी उलट देना कहाँ तक उचित है? धवलाकार ही हरिभद्रसूरि के ऋणी हैं, हरिभद्रसूरि धवलाकार के ऋणी नहीं हैं।

यह सत्य है कि 'धवला' में अनेक बातें संकलित कर ली गई हैं; किन्तु अनेक तथ्यों का संकलन करने मात्र से कोई ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण नहीं बन जाता है। पुनः, यह कहना कि 'धवला' में क्या नहीं है, एक अतिशयोक्तिपूर्ण कथन के अलावा कुछ नहीं है। जैन विद्या के अनेक पक्ष ऐसे हैं, जिनकी 'धवला' में कोई चर्चा नहीं है। 'धवला' मूलतः 'षट्खण्डागम' की टीका है, जो जैन कर्म-सिद्धान्त का ग्रन्थ है, अतः उसका भी मूल प्रतिपाद्य तो जैन कर्म-सिद्धान्त ही है, अन्य विषय तो प्रसंगवश समाहित कर लिये गये हैं। 'धवला' में क्या नहीं है? इस कथन का यह आशय लगा लेना कि 'धवला' में सब कुछ है, एक भ्रान्ति होगी। 'प्रवचनसारोद्धार' आदि अनेक श्वेताम्बर ग्रन्थों का विषय वैविध्य 'धवला' से भी अधिक है।

11. 'आचार्य वीरसेन बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होंने समस्त दिगम्बर-श्वेताम्बर साहित्य

का गहन अवलोकन किया था'.

आचार्य वीरसेन एक बहुश्रुत विद्वान् थे, यह मानने में किसी को भी कोई आपत्ति नहीं है; किन्तु वही एकमात्र बहुश्रुत विद्वान् हुए हों, ऐसा भी नहीं है। दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में ऐसे अनेक बहुश्रुत विद्वान् हुए हैं। पुनः, उन्होंने श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के साहित्य का अध्ययन किया हो, यह मानने में भी किसी को बाधा नहीं हो सकती है; किन्तु यह कहना कि उन्होंने समस्त दिगम्बर-श्वेताम्बर साहित्य का गहन अवलोकन किया था, अतिशयोक्तिपूर्ण कथन ही है। 'धवला' में ऐसे अनेक स्थल हैं, जो श्वेताम्बर-परम्परा और उसके ग्रन्थों से उनके परिचित न होने का संकेत करते हैं, साथ ही उनके काल तक श्वेताम्बर-दिगम्बर साहित्य इतना विपुल था कि उन सबका गहन अध्ययन कर लेना एक व्यक्ति के लिए किसी भी स्थिति में सम्भव नहीं था। अधिक तो क्या? जिस यापनीय-परम्परा के ग्रन्थ पर उन्होंने टीका लिखी, उसकी अनेक मान्यताओं के सम्बन्ध में उन्होंने कोई संकेत तक नहीं दिया। उस युग के श्वेताम्बर आगमों, यापनीय ग्रन्थों और स्वयं अपनी परम्परा के आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की विषयवस्तु के सम्बन्ध में धवलाकार का ज्ञान कितना सीमित था, यह तो उनकी टीका से ही स्पष्ट है।

12. 'जैन दर्शन का हर विषय क्रमबद्ध (systematic) रूप में शौरसेनी साहित्य में प्राप्त होता है'.

यह सत्य है कि शौरसेनी साहित्य में जैन दर्शन से सम्बन्धित जिन विषयों की विवेचना की गई है, वह अर्धमागधी आगमों की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित है; किन्तु इसका कारण यह है कि शौरसेनी साहित्य जिस काल में निर्मित हुआ, उस काल तक जैनदर्शन के विभिन्न सिद्धान्त व्यवस्थित रूप से विकसित हो चुके थे। किसी भी सिद्धान्त का विकास एक कालक्रम में होता है। क्रमबद्धता और व्यवस्था तो उस अन्तिम स्थिति की परिचायक है, जब वह सिद्धान्त अपने विकास की चरम अवस्था में पहुँच जाता है। शौरसेनी साहित्य में जैन दर्शन के विभिन्न सिद्धान्त व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध होते हैं, यह तो इस तथ्य का सूचक है कि शौरसेनी साहित्य अर्धमागधी आगम साहित्य से परवर्ती है और उसी के आधार पर निर्मित हुआ है। परवर्तीकालीन रचनाओं की यह विशेषता होती है कि वे अपने पूर्वकालीन रचनाओं की कमियों का निराकरण कर

अपने विषय को अधिक व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करती हैं। अतः, शौरसेनी साहित्य में वर्णित विषयों का अधिक व्यवस्थित और क्रमबद्ध होना इसी तथ्य का सूचक है कि वे अर्धमागधी आगमों से परवर्ती हैं। पुनः, इस कथन का यह आशय भी नहीं समझना चाहिए कि अर्धमागधी साहित्य में क्रमबद्धता और व्यवस्था का अभाव है। अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत में लिखी गयी श्वेताम्बर परम्परा की अनेक परवर्तीकालीन रचनाओं में भी ऐसी ही व्यवस्था और क्रमबद्धता उपलब्ध होती है। सिद्धसेन दिवाकर, मल्लवादी, जिनभद्रमणि, हरिभद्र, सिद्धर्षि, हेमचन्द्र आदि की रचनाओं में भी ऐसी ही विषय की सुसम्बद्धता एवं सुस्पष्टता है।

13. 'श्वेताम्बर और दिगम्बर'-दोनों एक दूसरे के सहायक बनिए

आदरणीय टाँटियाजी का यह सुझाव तो हम सभी को स्वीकार करने योग्य है। वस्तुतः, यदि हमें जैन धर्म-दर्शन के समग्र स्वरूप को समझना या प्रस्तुत करना है, तो परस्पर एक-दूसरे का सहयोग अपेक्षित है, क्योंकि दोनों परम्पराएँ परस्पर मिलकर ही जैनधर्म और संस्कृति का एक सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत कर सकती हैं; किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि एक-दूसरे की आलोचना अथवा दूसरे को हेय मानकर अपनी श्रेष्ठता का बढ़-चढ़कर दावा करना, इस दिशा में कथमपि सहायक नहीं हो सकेगा। हमें अपनी परम्पराओं की विशेषता को उजागर करने का अधिकार तो है; किन्तु दूसरे पक्ष को हीन या नीचा दिखाकर नहीं। हमें अपनी बातों को इस तरह से प्रस्तुत करना चाहिए कि वे दूसरे की अस्मिता और गरिमा को खण्डित न करें। अपेक्षा तो यह भी की जानी चाहिए कि हम दूसरे पक्ष में निहित अच्छाइयों को भी स्वीकार करने के लिए तत्पर रहें और इस प्रकार अपनी उदारदृष्टि का परिचय दें। प्रो. टाँटियाजी ने शौरसेनी साहित्य और दिगम्बर परम्परा की अच्छाइयों को उजागर करके अपनी उदारदृष्टि का परिचय दिया है; किन्तु इसे तोड़-मरोड़कर इस तरह क्यों प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे अर्धमागधी साहित्य और श्वेताम्बर समाज की अस्मिता को आघात लगे।

14. 'इस व्याख्यान में टाँटियाजी ने धवला, षट्खण्डागम, वीरसेन, कुन्दकुन्द, मूलाचार, आत्मख्याति, अमृतचन्द्र आदि की भी खुलकर प्रशंसा की'.

निश्चय ही 'षट्खण्डागम', उसकी 'धवला' टीका और टीकाकार वीरसेन का जैन

कर्म-सिद्धान्त के विकास में महत्त्वपूर्ण अवदान है, जिसे जैन दर्शन का कोई भी अध्येता अस्वीकार नहीं कर सकता। इसी प्रकार, आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' और अमृतचन्द्र की 'आत्मख्याति' टीका के कलशों का जैन दार्शनिक साहित्य के क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण अवदान है उसके आधार पर उन्हें जैन अध्यात्मरूपी मन्दिर का स्वर्णकलश कह सकते हैं। आदरणीय टाँटियाजी ने उन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की प्रशंसा कर अपनी उदारता का परिचय दिया है और इस प्रकार अपना कर्त्तव्य पूर्ण किया है। जैन विद्या का कोई भी तटस्थ विद्वान् इन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के महत्त्व और मूल्य को अस्वीकार नहीं करेगा; किन्तु भाई सुदीपजी को इस प्रशंसा का यह आशय नहीं लगाना चाहिए कि केवल दिगम्बर परम्परा में या केवल शौरसेनी साहित्य के क्षेत्र में ही उच्चकोटि के विद्वान् हुए हैं और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं। श्वेताम्बर परम्परा में भी सिद्धसेन, दिवाकर, मल्लवादी, जिनभद्रमणि, हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि अनेक विद्वान् हुए हैं और उनकी रचनाओं का भी महत्त्व एवं मूल्य कम नहीं है।

यदि प्राकृतविद्या को वस्तुतः प्राकृतविद्या का नाम सार्थक करना है, तो उसे प्राकृत की विभिन्न विधाओं, यथा-अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश-सभी को समान रूप से महत्त्व देना चाहिए। यदि उन्हें केवल शौरसेनी का ही गुणगान करना है और दूसरी प्राकृतों को हेय दिखाना है, तो पत्रिका का नाम शौरसेनी प्राकृतविद्या या शौरसेनी विद्या रख लेना चाहिए। केवल शौरसेनी ही प्राकृत है, उसी से समस्त प्राकृतों का जन्म हुआ है और उसी में ही सत्साहित्य का सृजन हुआ है, ऐसा कथन सत्य नहीं है। प्राकृत की अन्य विधाओं में भी उत्तम कोटि के ग्रन्थ लिखे गये हैं और शीर्षस्थ विद्वान् हुए हैं, अतः उन्हें हेय समझकर किसी भी प्रकार की अनभिज्ञता और अज्ञानता को बीच में लाकर प्राकृत विद्या के महत्त्व को घटाने का उपक्रम नहीं होने देना चाहिए।

मैं प्राकृतविद्या के सम्पादक भाई सुदीपजी से यह निवेदन करना चाहूँगा कि या तो वे आदरणीय टाँटियाजी के व्याख्यान की टेप को अविकल रूप से यथावत् प्रकाशित कर दें, या उस टेप को जो चाहें, उन्हें उपलब्ध करा दें, ताकि उसे प्रकाशित करके यह निरर्थक विवाद समाप्त किया जा सके।

***

6 शौरसेनी प्राकृत के सम्बन्ध में प्रो. भोलाशंकर व्यास की स्थापनाओं की समीक्षा

'प्राकृतविद्या' के सम्पादक डॉ.सुदीप जैन ने प्रो.भोलाशंकर व्यास के व्याख्यान में उभरकर आये कुछ विचार बिन्दुओं को 'प्राकृत विद्या', जनवरी-मार्च 1997 के अपने सम्पादकीय में प्रस्तुत किया है। हम यहाँ सर्वप्रथम प्रो. भोलाशंकर व्यास के नाम से प्रस्तुत उन विचार-बिन्दुओं को अविकल रूप से देकर फिर उनकी समीक्षा करेंगे। डॉ.सुदीप जैन लिखते हैं -

'प्राकृत भाषा इस देश की मूल भाषा रही है और प्राकृत के विविध रूपों में भी शौरसेनी प्राकृत ही मूल प्राकृत थी, इसकी समवर्ती मागधी प्राकृत इसी का 'क्षेत्रीय संस्करण' थी। शौरसेनी प्राकृत मध्यदेश में बोली जाती थी तथा सम्पूर्ण बृहत्तर भारत में इसके माध्यम से साहित्य सृजन होता रहा है, इसीलिए शौरसेनी प्राकृत ही अन्य सभी प्राकृतों एवं लोकभाषाओं की जननी रही है। पहले मूल दो ही प्राकृतें थी-शौरसेनी और मागधी। परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत पूरी तरह से शौरसेनी का ही परिवर्तित रूप है। 'महाराष्ट्री' का कोई स्वतंत्र अस्तित्व मैं नहीं मानता। यही नहीं, 'अर्धमागधी' प्राकृत, जो कि श्वेताम्बर जैन आगम-ग्रन्थों में ही मिलती है, का आधार भी शौरसेनी प्राकृत ही है। इसके बाद परिशुद्ध शौरसेनी भाषा 'कसायपाहुरसुत्त', 'छक्खण्डागमसुत्त', कुन्दकुन्द साहित्य एवं 'धवला'-'जयधवला' आदि में प्रयुक्त मिलती है। दिगम्बर जैन साहित्य की शौरसेनी प्राकृत भाषा अकृत्रिम, स्वाभाविक एवं वास्तविक जनभाषा है। यही नहीं, बौद्ध ग्रन्थों की

भाषा मूलतः शौरसेनी प्राकृत ही है, जिसे कृत्रिम रूप से संस्कृतनिष्ठ बनाकर पूर्वदेशीय प्रभावों के साथ पाली रूप दिया गया। उसे खींच-तानकर प्राचीन बनाने की कोशिश की गयी है, जिससे उसकी वाक्यरचना में जटिलता आ गई है। इसी कारण, मैं शौरसेनी को ही मूल प्राकृत भाषा मानता हूँ। मागधी भी लगभग इतनी ही प्राचीन है, परन्तु वस्तुतः उसमें पूर्वीय उच्चारण-भेद के अतिरिक्त अन्य कोई अन्तर नहीं है, मूलतः वह भी शौरसेनी ही है।'-प्रो. भोलाशंकर व्यास (प्राकृतविद्या, जनवरी-मार्च 1997, पृ.17)

यद्यपि इन विचारबिन्दुओं में अधिकांश वे ही हैं, जिन्हें नथमलजी टाँटिया के व्याख्यान के संदर्भ में भी प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार, प्रो.व्यासजी के व्याख्यान में उभरकर आये विचार-बिन्दुओं में यद्यपि कोई नवीन मुद्दे सामने नहीं आये हैं, फिर भी यहाँ उनकी समीक्षा कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा।

1. 'शौरसेनी प्राकृत ही मूल प्राकृत थी, इसकी समवर्ती मागधी प्राकृत इसका क्षेत्रीय संस्करण थी'.

शौरसेनी प्राकृत यदि मूल प्राकृत थी, तो फिर भास के नाटकों (ईसा की दूसरी शती) के पूर्व के प्राकृत अभिलेखों और प्राकृत के ग्रन्थों में शौरसेनी की प्रवृत्तियाँ अर्थात् मध्यवर्ती 'त्' के स्थान पर 'द्' एवं 'न्' के स्थान पर 'ण्' क्यों नहीं दिखाई देता है? इस सम्बन्ध में हम विस्तार से चर्चा अपने अन्य लेखों 'जैन आगमों की मूलभाषा-अर्धमागधी या शौरसेनी'1, 'अशोक के अभिलेखों की भाषा'2 आदि में कर रहे हैं। सत्यता यह है कि ईसा की दूसरी शती के पूर्व उस शौरसेनी प्राकृत का कहीं कोई अता-पता ही नहीं था, जिसे मूल प्राकृत कहा जा रहा है।

प्रो. व्यासजी का यह कथन कि 'मागधी प्राकृत शौरसेनी प्राकृत का क्षेत्रीय संस्करण थी', यह भाषा-शास्त्रीय ठोस प्रमाणों पर आधारित नहीं है, क्योंकि मूलतः सभी प्राकृतें अपनी-अपनी क्षेत्रीय बोलियों से ही विकसित हुई हैं। मागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि प्राकृतों को प्राकृत भाषा के क्षेत्रीय संस्करण तो कहा जा सकता है; किन्तु इनमें से किसी को भी मूल और दूसरी को उसका क्षेत्रीय संस्करण नहीं कहा जा सकता। इनमें से किसी को माता और किसी को पुत्री नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ये तो सभी बहनें हैं। यदि हम कालक्रम की दृष्टि से विचार करें, तो हमें यही मानना होगा कि लिखित भाषा के रूप में मागधी ही सबसे प्राचीन प्राकृत है। अतः, इस दृष्टि से प्रो. व्यासजी का यह

समीकरण उलट जाएगा और उन्हें यह मानना होगा कि मागधी मूल प्राकृत है और शौरसेनी प्राकृत, मागधी प्राकृत का एक क्षेत्रीय संस्करण है।

2. 'शौरसेनी प्राकृत मध्य-देश में बोली जाती थी तथा सम्पूर्ण बृहत्तर भारत में इसके माध्यम से साहित्य सृजन होता रहा'.

यह तो सत्य है कि शौरसेनी प्राकृत मध्यदेश में बोली जाती थी; किन्तु प्रो. व्यास का यह कथन कि सम्पूर्ण भारत में इसके माध्यम से साहित्य सृजन होता रहा है, साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर मात्र एक अतिशयोक्ति से अधिक कुछ नहीं है, क्योंकि नाटकों के शौरसेनी अंशों को छोड़कर हमें शौरसेनी प्राकृत में कोई भी धर्म या सम्प्रदाय-निरपेक्ष सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। शौरसेनी प्राकृत में जो भी ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, वे मात्र जैनों के दिगम्बर और यापनीय सम्प्रदायों के हैं। यह ठीक है कि इन सम्प्रदायों के आचार्यों ने चाहे वे उत्तर भारत के हों या दक्षिण भारत के, शौरसेनी प्राकृत में ही अपने ग्रन्थ लिखे थे; किन्तु हमें यह भी स्मरण में रखना चाहिए कि उसी काल में श्वेताम्बर जैन आचार्य अर्धमागधी या अर्धमागधी प्रभावित महाराष्ट्री प्राकृत में अपनी धार्मिक एवं साहित्यिक कृतियों की रचना कर रहे थे। मात्र इतना ही नहीं, उसी काल में धर्म एवं सम्प्रदाय निरपेक्ष साहित्यिक कृतियों की रचना भी महाराष्ट्री प्राकृत में हो रही थीं। जहाँ शौरसेनी प्राकृत में सम्प्रदाय निरपेक्ष साहित्यिक ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, वहीं महाराष्ट्री प्राकृत में ऐसे अनेकों ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इससे यही फलित होता है कि धर्म-निपरेक्ष साहित्यिक कृतियों की रचना की दृष्टि से महाराष्ट्री प्राकृत ही अधिक प्रचलन में थीं। आज शौरसेनी प्राकृत की अपेक्षा महाराष्ट्री प्राकृत के अधिक व्यापक होने के प्रमाण हैं। अतः, यह मानना होगा कि शौरसेनी की अपेक्षा महाराष्ट्री प्राकृत अधिक व्यापक रही है और उसके माध्यम से धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष-दोनों ही प्रकार के साहित्य का सृजन भारत में होता रहा है।

3. 'शौरसेनी प्राकृत ही सभी प्राकृतों एवं अन्य भाषाओं की जननी है'.

इस प्रश्न के सम्बन्ध में भी हम अपने पूर्व लेखों में विस्तार से चर्चा कर चुके हैं।[1] सत्य तो यह है कि सभी प्राकृतें अपनी-अपनी क्षेत्रीय बोलियों से विकसित हुई है और इसलिए यह कहना किसी भी स्थिति में युक्तिसंगत नहीं है कि शौरसेनी प्राकृत ही सभी प्राकृतों या अन्य भाषाओं की जननी है। किसी भी एक प्राकृत को दूसरी प्राकृत से उत्पन्न हुआ मानना एक भ्रान्ति है। सभी साहित्यिक प्राकृतें अपनी-अपनी क्षेत्रीय बोलियों के

संस्कारित रूप हैं। प्रत्येक क्षेत्रीय बोली की उच्चारणगत अपनी विशेषता होती है, जो उस क्षेत्र की भाषा की भी विशेषता बन जाती है। ये उच्चारणगत क्षेत्रीय विशेषताएँ प्रत्येक क्षेत्र की निजी होती हैं, वे किसी भी दूसरे क्षेत्र के प्रभाव से उत्पन्न नहीं होती हैं। अतः, प्रत्येक प्राकृत अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ अपनी क्षेत्रीय बोली से जन्म लेती हैं, किसी दूसरी प्राकृत से नहीं, जैसे-मारवाड़ी, मेवाड़ी, मालवी, बुन्देली, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि बोलियों को किसी एक बोली विशेष से या हिन्दी से उत्पन्न मानना अवैज्ञानिक है एवं एक भ्रान्ति है और कोई भी भाषाशास्त्री इस तथ्य को स्वीकार नहीं करेगा; वैसे ही किसी एक प्राकृत विशेष को भी दूसरी प्राकृत से या संस्कृत से उत्पन्न होना मानना भी एक भ्रान्ति है।[2]

4. 'पहले दो प्राकृतें थीं शौरसेनी और मागधी; महाराष्ट्री प्राकृत पूरी तरह से शौरसेनी प्राकृत का ही परवर्ती रूप है। महाराष्ट्री प्राकृत का मैं कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानता'.

प्रथम तो यह कहना कि महाराष्ट्री प्राकृत, शौरसेनी का ही परवर्ती रूप है, उचित नहीं है, क्योंकि शौरसेनी और महाराष्ट्री आदि सभी प्राकृतों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं, जहाँ शौरसेनी प्राकृत में मध्यवर्ती 'त्' का 'द्' में परिवर्तन होता है, वहीं महाराष्ट्री प्राकृत में लुप्त व्यञ्जनों की 'य्' श्रुति होती है। पुनः शौरसेनी की अपेक्षा महाराष्ट्री प्राकृत कोमल और कान्त है, वहीं शौरसेनी कठोर पदावलियों से युक्त है, यथा -'वद्धमान' का 'वड्ढमाण'। पुनः, जब दोनों की अपनी-अपनी लक्षणगत भिन्नता है, तो फिर यह कहना कि मैं महाराष्ट्री प्राकृत का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानता हूँ, उचित नहीं है।

आज यदि प्राकृतों में किसी प्राकृत का सर्वाधिक साहित्य है, तो वह महाराष्ट्री प्राकृत का ही है। महाराष्ट्री प्राकृत के साहित्य की तुलना में शेष सभी प्राकृतों का साहित्य तो दशमांश भी नहीं है। जिसमें 90 प्रतिशत साहित्य हो उस प्राकृत का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानना केवल पक्षाग्रह का ही सूचक है। पुनः, यदि महाराष्ट्री और शौरसेनी में अन्तर नहीं है, तो फिर शौरसेनी नाम का आग्रह ही क्यों? आज एक भी ऐसा साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक प्रमाण नहीं है, जिससे यह सिद्ध हो सके कि शौरसेनी प्राचीन है और महाराष्ट्री परवर्ती है। अश्वघोष या भास के नाटकों से अर्थात् ईस्वी सन् की दूसरी शती से पूर्व का एक भी साहित्यिक या अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर शौरसेनी की अन्य प्राकृतों से प्राचीनता सिद्ध हो सके, जबकि सातवाहन हाल की महाराष्ट्री प्राकृत

में रचित 'गाथासप्तशती' उनसे प्राचीन है, क्योंकि सातवाहन का काल प्रथम शती माना जाता है। मात्र यही नहीं, 'गाथासप्तशती' भी एक संग्रह ग्रन्थ है और इसकी अनेकों गाथाएँ उससे भी पूर्व रचित हैं, अतः परवर्ती भाषा महाराष्ट्री नहीं, शौरसेनी ही है।

5. 'अर्धमागधी प्राकृत, जो मात्र श्वेताम्बर जैन आगमों में मिलती है, का आधार शौरसेनी प्राकृत ही है'.

इस सम्बन्ध में भी विस्तार से चर्चा मैं इसी ग्रन्थ में प्रकाशित अपने स्वतंत्र लेख 'आगमों की मूल भाषा शौरसेनी या अर्धमागधी' में कर चुका हूँ। यह ठीक है कि अर्धमागधी में मागधी के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रीय बोलियों के शब्दरूप भी मिलते हैं। यद्यपि अर्धमागधी में अनेक स्थानों पर 'र्' का 'ल्' विकल्प से तो होता ही है, किन्तु इसमें मागधी के कुछ लक्षण जैसे सर्वत्र 'र्' का 'ल्', 'स्' का 'श्' नहीं मिलते हैं; फिर भी यह सुनिश्चित सत्य है कि भगवान् महावीर के वचनों के आधार पर सर्वप्रथम इसी अर्धमागधी प्राकृत में आगम और आगमतुल्य ग्रन्थों की रचना हुई है। ऐसी स्थिति में यह कहने का क्या अर्थ है कि अर्धमागधी प्राकृत का आधार शौरसेनी प्राकृत है। इसके विपरीत, सिद्ध तो यही होता है कि शौरसेनी प्राकृत का आधार अर्धमागधी है, क्योंकि शौरसेनी आगमों में अर्धमागधी आगमों और महाराष्ट्री के हजारों शब्दरूप ही नहीं, अपितु हजारों गाथाएँ भी मिलती हैं, इसकी सप्रमाण चर्चा भी हम अपने पूर्व लेख में कर चुके हैं।

पुनः, आगमिक उल्लेखों से भी यही प्रमाणित होता है कि भगवान् महावीर ने अपने प्रवचन अर्धमागधी प्राकृत में दिये थे और उन्हीं के आधार पर गणधरों ने उसी भाषा में ग्रन्थ रचना की थी। भगवान् महावीर और उनके गणधरों की मातृभाषा मागधी थी, न कि शौरसेनी, क्योंकि वे सभी मगध में ही जन्मे थे। क्या प्रो. व्यासजी भाषाशास्त्रीय, साहित्यिक या अभिलेखीय प्रमाणों से यह सिद्ध कर सकते हैं कि श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी प्राकृत का आधार शौरसेनी प्राकृत या उसमें रचित ग्रन्थ हैं?

उपलब्ध अर्धमागधी आगमों, यथा–आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, ऋषिभाषित आदि को पाश्चात्य एवं पौर्वात्य सभी विद्वानों ने ईस्वी पूर्व की रचनाएँ माना है, जबकि कोई भी शौरसेनी आगम ईसा की तीसरी –चौथी शती के पूर्व का नहीं है। इससे सिद्ध यही होता है कि शौरसेनी आगमों का आधार अर्धमागधी आगम है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'प्राकृत व्याकरण' में शौरसेनी प्राकृत के विशिष्ट लक्षणों की चर्चा करने के बाद अन्त में यह कहा

–'शेषं प्राकृतवत्', इस सूत्र से क्या यही सिद्ध किया जाय कि शौरसेनी प्राकृत का आधार महाराष्ट्री प्राकृत है। ज्ञातव्य है कि हेमचन्द्र का 'प्राकृत' से तात्पर्य 'महाराष्ट्री प्राकृत' ही है, क्योंकि उन्होंने प्राकृत के नाम से महाराष्ट्री प्राकृत का ही व्याकरण लिखा है।

6. 'शौरसेनी प्राकृत के प्राचीनतम रूप सम्राट अशोक के गिरनार के शिलालेख में मिलते हैं'.

इस सम्बन्ध में भी विस्तृत विवेचन हम अपने स्वतंत्र लेख 'अशोक के अभिलेखों की भाषा मागधी या शौरसेनी' में कर रहे हैं। सभी विद्वानों ने एक स्वर से इस तथ्य को स्वीकार किया है कि अशोक के अभिलेखों की भाषा मागधी या आर्षप्राकृत ही है, यद्यपि अभिलेखों पर तत्–तत् क्षेत्र की बोलियों का किञ्चित प्रभाव देखा जाता है। शौरसेनी प्राकृत के जो दो विशिष्ट लक्षण माने जाते हैं– मध्यवती 'त्' के स्थान पर 'द्' और दन्त्य 'न्' के स्थान पर मूर्द्धन्य 'ण्'– ये दोनों लक्षण अशोक के किसी अभिलेख में प्रायः नहीं देखे जाते हैं' अतः हमें अशोक के भिन्न भिन्न अभिलेखों की भाषा को तत् तत् प्रदेशों की क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी ही मानना होगा। इन क्षेत्रीय बोलियों के प्रभाव के आधार पर उसे अर्धमागधी के निकट तो कह सकते हैं;किन्तु शौरसेनी कदापि नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उनमें शौरसेनी का कोई भी विशिष्ट लक्षण नहीं पाया जाता है। एक दो अपवादों को छोड़कर अशोक के अभिलेखों में न तो कहीं मध्यवर्ती 'त्' का 'द्' पाया जाता है और न कहीं दन्त्य 'न्' के स्थान पर मूर्धन्य 'ण्' का प्रयोग मिलता है। उनमें सर्वत्र ही दन्त्य 'न्' का प्रयोग देखा जाता है।

जहाँ तक प्रो. व्यासजी के इस कथन का प्रश्न है कि 'शौरसेनी प्राकृत के प्राचीनतम रूप सम्राट अशोक के गिरनार के शिलालेख में मिलते हैं' इस विषय में हम उनसे यही जानना चाहेंगे कि क्या गिरनार के किसी भी शिलालेख में मध्यवर्ती 'त्' के स्थान पर 'द्' का प्रयोग हुआ है? जहाँ तक मूर्द्धन्य 'ण्' का प्रश्न है, वह शौरसेनी और महाराष्ट्री–दोनों में समान रूप से पाया जाता है, फिर भी उसका अशोक के अभिलेखों में कहीं प्रयोग नहीं हुआ है। हम उनसे साग्रह निवेदन करना चाहेंगे कि वे गिरनार के अभिलेखों में उन शब्द–रूपों को छोड़कर, जो शौरसेनी और महाराष्ट्री–दोनों में ही पाये जाते हैं, शौरसेनी के विशिष्ट लक्षणयुक्त शब्द–रूप दिखायें, जो अर्धमागधी और महाराष्ट्री के शब्द–रूपों से भिन्न हों और मात्र शौरसेनी की विशिष्टता को लिये हों।

यहाँ हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि गिरनार का क्षेत्र तो महाराष्ट्री प्राकृत का क्षेत्र है। गिरनार के अभिलेखों में जिन्हें वे शौरसेनी प्राकृत के शब्द-रूप मान रहे हैं वे वस्तुतः महाराष्ट्री प्राकृत के शब्दरूप हैं, अतः गिरनार के अभिलेखों की भाषा को शौरसेनी प्राकृत नहीं माना जा सकता है। पुनः, गिरनार की बात तो दूर रही, स्वयं शौरसेनी प्राकृत के क्षेत्र देहली-टोपरा के अशोक के अभिलेखों में कहीं भी शौरसेनी के विशिष्ट लक्षण नहीं पाये जाते हैं, अपितु वहाँ पर 'लाजा' जैसे मागधी रूप ही मिलते हैं, फिर वे किस आधार पर यह कहते हैं कि गिरनार के शिलालेखों में शौरसेनी प्राकृत के प्राचीनतम रूप मिलते हैं।

7. 'इसी क्रम में आगे प्रो. व्यासजी कहते हैं-इसके बाद परिशुद्ध शौरसेनी भाषा 'कसायपाहुडसुत्त','छक्खण्डागमसुत्त', 'कुन्दकुन्द साहित्य' एवं 'धवला', 'जयधवला' आदि में प्रयुक्त मिलती हैं'.

प्रो. व्यासजी ने उपर्युक्त ग्रन्थों की भाषा को परिशुद्ध शौरसेनी कहा है। मैं प्रो. व्यासजी से अत्यन्त विनम्र शब्दों में यह पूछना चाहूँगा कि क्या इन ग्रन्थों के शब्द-रूपों का भाषाशास्त्रीय दृष्टि से उन्होंने कोई विश्लेषण किया है? क्या इन ग्रन्थों के सन्दर्भ में उनका अध्ययन प्रो. उपाध्ये और प्रो. खडबडी जैसे दिगम्बर परम्परा के मूर्धन्य विद्वानों की अपेक्षा भी अधिक गहन है। आज तक किसी भी विद्वान् ने दिगम्बर आगमों की भाषा को परिशुद्ध शौरसेनी नहीं माना है। प्रो. ए.एन.उपाध्ये ने 'प्रवचनसार' की भूमिका में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि उसकी (प्रवचनसार की) भाषा पर अर्धमागधी का प्रभाव है। प्रो. खडबडी छक्खण्डागम की भाषा को भी शुद्ध शौरसेनी नहीं मानते हैं और उस पर अर्धमागधी का प्रभाव बताते हैं। यदि हम इन सभी ग्रन्थों के शब्द-रूपों का भाषाशास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण करें, तो स्पष्ट रूप से हमें एक दो नहीं, परन्तु सैकड़ों और हजारों शब्द-रूप महाराष्ट्री और अर्धमागधी प्राकृत के मिलेंगे।

मैंने अपने पूर्व लेख 'जैन आगमों की मूल भाषा अर्धमागधी या शौरसेनी' में विस्तार से इस सम्बन्ध में भी चर्चा की है।[3] प्रो.व्यासजी जिसे परिशुद्ध शौरसेनी कह रहे हैं, तो वह तो अर्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री की एक प्रकार की खिचड़ी है। शौरसेनी के प्रत्येक ग्रन्थ में इन विभिन्न प्राकृतों का अनुपात भी भिन्न-भिन्न पाया जाता है।

8. 'बौद्ध ग्रन्थों की पाली भाषा भी मूलतः शौरसेनी प्राकृत ही थी, जिसे कृत्रिम रूप

से संस्कृतनिष्ठ बनाकर पूर्व-देशीय प्रभावों के साथ पाली-रूप दिया गया'.

बौद्ध ग्रन्थों की मूल भाषा क्या थी और उसे किस प्रकार पाली में रूपान्तरित किया गया, इसकी भी विस्तृत सप्रमाण समीक्षा हम अपने 'जैन आगमों की मूल भाषा अर्धमागधी या शौरसेनी' नामक लेख में कर चुके हैं।[4] उस लेख में हमने स्पष्ट रूप से यह बताने का प्रयास किया है कि भगवान् बुद्ध का कार्यक्षेत्र मुख्यतः मगध और उसका समीपवर्ती प्रदेश रहा है। उन्होंने उनकी मातृभाषा मागधी में ही अपने उपदेश दिये थे और उनके उपदेशों का प्रथम संकलन भी मागधी में ही हुआ था। यह सत्य है कि कालान्तर में उसे संस्कृत के निकटवर्ती बनाकर पाली रूप दिया गया; किन्तु उसे किसी भी रूप में शौरसेनी प्राकृत नहीं कहा जा सकता है। उसे खींचतान कर शौरसेनी बताने का प्रयत्न एक दुराग्रह मात्र ही होगा।

9. 'मैं शौरसेनी को ही मूल प्राकृत भाषा मानता हूँ'

हमें यहाँ प्रो. व्यासजी के द्वारा खड़ी की गई इस भ्रान्ति का निराकरण करना होगा कि सभी प्राकृतें शौरसेनीजन्य हैं। अपने व्याख्यान में वे एक स्थान पर कहते हैं कि 'शौरसेनी प्राकृत ही मूल प्राकृत थी और इसकी समवर्ती मागधी प्राकृत इसी का क्षेत्रीय संस्करण थी।' पुनः, वे कहते हैं कि 'परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत पूरी तरह से शौरसेनी का ही परिवर्तित रूप है, महाराष्ट्री प्राकृत का स्वतन्त्र अस्तित्व मैं नहीं मानता।' पुनः, वे कहते हैं कि 'अर्धमागधी प्राकृत, जो कि मात्र श्वेताम्बर जैन आगम-ग्रन्थों में मिलती है, उसका आधार भी शौरसेनी प्राकृत ही है।' इसी क्रम में आगे वे कहते हैं कि 'बौद्ध ग्रन्थों की पाली भाषा भी मूलतः शौरसेनी प्राकृत ही है।' उनके इन सब कथनों का निष्कर्ष तो यह है कि मागधी भी शौरसेनी, महाराष्ट्री भी शौरसेनी है, अर्धमागधी भी शौरसेनी है और पाली भी शौरसेनी है। यदि मागधी, पाली, अर्धमागधी और महाराष्ट्री सभी शौरसेनी हैं, तो फिर यह सब अलग-अलग भाषाएँ क्यों मानी जाती हैं और व्याकरण ग्रन्थों में इनके अलग-अलग लक्षण क्यों निर्धारित किये गये हैं? मागधी, शौरसेनी आदि सभी प्राकृतों के अपने विशिष्ट लक्षण हैं, जो उससे भिन्न अन्य प्राकृत में नहीं मिलते हैं, फिर वे सब एक कैसे कही जा सकती हैं। यदि मागधी, पाली, अर्धमागधी और महाराष्ट्री- सभी शौरसेनी हैं तो इन सभी के विशिष्ट लक्षणों को भी शौरसेनी के ही लक्षण मानने होंगे और ऐसी स्थिति में शौरसेनी का कोई भी विशिष्ट लक्षण नहीं रह जायेगा; किन्तु क्या शौरसेनी के विशिष्ट लक्षणों के अभाव में उसे शौरसेनी नाम भी दिया जा सकेगा? वह तो परिशुद्ध शौरसेनी न होकर

मागधी, पाली, अर्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री की ऐसी खिचड़ी होगी, जिसे शौरसेनी न कहकर अर्धमागधी कहना ही उचित होगा, क्योंकि अर्धमागधी का ही यह लक्षण बताया गया है। ज्ञातव्य है कि अर्धमागधी का लक्षण यही है कि उसमें मागधी के साथ-साथ अन्य क्षेत्रीय बोलियों के शब्द-रूप भी पाये जाते हैं।

10 'मैं शौरसेनी को ही मूल प्राकृत मानता हूँ, मागधी भी लगभग इतनी ही प्राचीन है, परन्तु वस्तुतः उसमें पूर्वी उच्चारण -भेद के अतिरिक्त कोई अन्तर नहीं है। मूलतः यह भी शौरसेनी ही है.'

मैं प्रो. व्यासजी से सविनय यह पूछना चाहूँगा कि यदि शौरसेनी ही मूल प्राकृत भाषा है, तो क्या इसका कोई अभिलेखीय या साहित्यिक प्रमाण है? 'प्रकृतिः शौरसेनी' के जिस सूत्र को लेकर शौरसेनी को मूल प्राकृत भाषा कहा जा रहा है, उसमें 'प्रकृति' शब्द का क्या अर्थ है, इसकी विस्तृत समीक्षा भी हम पूर्व लेख 'जैन आगमों की मूल भाषा अर्धमागधी या शौरसेनी' में कर चुके हैं।

पुनः, प्रो. व्यासजी का यह कथन कि मागधी भी लगभग इतनी ही प्राचीन है, यही सिद्ध करता है कि मागधी प्राकृत शौरसेनी से उत्पन्न नहीं हुई है। प्रो. व्यासजी दबी जबान से यह तो स्वीकार करते हैं कि 'मागधी भी इतनी ही प्राचीन है' ; किन्तु वे स्पष्ट रूप से यह क्यों नहीं स्वीकार करते कि मागधी शौरसेनी की अपेक्षा प्राचीन है। अशोक के अभिलेख, जो ई.पू. तीसरी शती में लिखे गए, वे मागधी की प्राचीनता को स्पष्ट रूप से उजागर कर रहे हैं, जबकि शौरसेनी का कोई भी ग्रन्थ या ग्रन्थांश ई. सन् की प्रथम-द्वितीय शती के पूर्व का नहीं है। यदि साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर मागधी प्राकृत शौरसेनी की अपेक्षा कम से कम 300 वर्ष प्राचीन है, तो फिर यह मानना होगा कि वह मागधी ही मूल प्राकृत भाषा है।

पुनः, प्रो.व्यासजी का यह कथन कि 'पूर्वीय उच्चारण भेद के अतिरिक्त मागधी और शौरसेनी में कोई अन्तर नहीं है। यह कथन मूलतः वह भी शौरसेनी ही है', युक्तिसंगत नहीं है। हमें यह ध्यान रखना होगा कि उच्चारण भेद और प्रत्ययों के भेद ही विभिन्न प्राकृतों के अन्तर का आधार है। यदि भेद नहीं होते, तो फिर विभिन्न प्राकृतों में कोई अन्तर किया ही नहीं जा सकता था और सभी प्राकृतें एक ही होतीं। वस्तुतः, प्राकृत के मागधी, पाली, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि जो विविध भेद हैं, वे अपने-अपने क्षेत्रीय उच्चारण

भेद और प्रत्यय-भेद के आधार पर ही स्थित हैं। अतः, यह तो कहा जा सकता है कि मागधी, पाली, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि सभी मूलतः प्राकृतें हैं; किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि मागधी आदि भी शौरसेनी हैं। इनकी अपनी-अपनी लाक्षणिक भिन्नताएँ हैं, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि मागधी भी शौरसेनी है या शौरसेनी का क्षेत्रीय संस्करण है। जिस प्रकार मागधी, पाली, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि प्राकृत के विभिन्न भेद हैं, उसी प्रकार शौरसेनी भी प्राकृत का ही एक भेद है। पुनः, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि दिगम्बर जैन आगमों की शौरसेनी परिशुद्ध शौरसेनी न होकर अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्रभावित शौरसेनी है और इसीलिए पाश्चात्य विद्वानों ने उसे जैन शौरसेनी नाम दिया है।

मैं 'प्राकृतविद्या' के सम्पादक डॉ.सुदीपजी जैन से निवेदन करना चाहूँगा कि वे प्रो. टाँटियाजी और प्रो. भोलाशंकर व्यासजी के नाम पर शौरसेनी की सर्वोपरिता की थोथी मान्यता स्थापित करने हेतु प्राकृत प्रेमियों के बीच खाई न खोदें। वस्तुतः, यदि प्राकृत प्रेमी पाली, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री की सर्वोपरिता के नाम पर आपस में लड़ने लगेंगे, तो इससे प्राकृतविद्या की ही दुर्गति होगी। आज आवश्यकता है मिल-जुल कर समवेत रूप से प्राकृतविद्या के विकास की, न कि प्राकृत के इन क्षेत्रीय भेदों के नाम पर लड़कर अपनी शक्ति को समाप्त करने की। आशा है, प्राकृतविद्या के सम्पादक को इस सत्यता का बोध होगा और वे प्राकृत-प्रेमियों को आपस में न लड़ाकर प्राकृतों के विकास का कार्य करेंगे।

सन्दर्भ

1. देखें - मेरा लेख- 'जैन आगमों' की मूल भाषा अर्द्धमागधी या शौरसेनी, सागर जैन, विद्याभारती, भाग-5, पृ. 10 से 36.
2. देखें - मेरा लेख, जिनवाणी, अंक-अप्रैल से सितम्बर 1998
3. देखें - मेरा लेख, जिनवाणी, अंक-जून 1998, पृ. 23 से 28
4. देखें - मेरा लेख, जिनवाणी, अंक-अप्रैल, मई, जून 1998

***

7 अशोक के अभिलेखों की भाषा मागधी या शौरसेनी

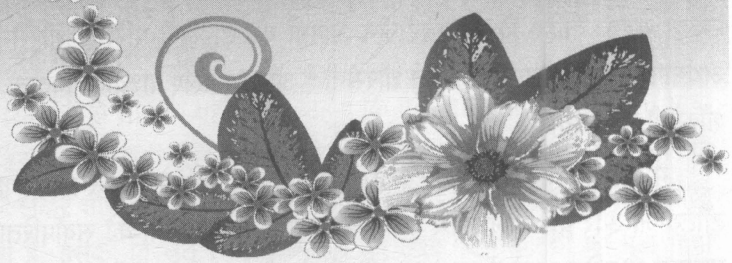

प्राकृत विद्या, अंक जनवरी–मार्च 1997 (पृ.97) में प्रो. भोलाशंकर व्यास के व्याख्यान के समाचारों के संदर्भ में सम्पादक डॉ. सुदीप जैन ने प्रो. व्यासजी को उद्धृत करते हुए लिखा है कि शौरसेनी प्राकृत के प्राचीन रूप सम्राट अशोक के गिरनार शिलालेख में मिलते हैं, किन्तु प्रो. व्यासजी का यह कथन भ्रामक है और इसका कोई भाषाशास्त्रीय ठोस आधार नहीं है।

अशोक के अभिलेखों की भाषा और व्याकरण के सन्दर्भ में अधिकृत विद्वान् एवं अध्येता डॉ.राजबली पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ 'अशोक के अभिलेख' में गहन समीक्षा की है। उन्होंने अशोक के अभिलेखों की भाषा को चार विभागों में बांटा है–1. पश्चिमोत्तरी (पैशाच–गांधार), 2. मध्यभारतीय, 3. पश्चिमी महाराष्ट्र, 4. दक्षिणावर्त्त (आन्ध्र कर्नाटक)। अशोक की भाषा के सन्दर्भ में वह लिखते हैं कि –महाभारत के बाद का भारतीय इतिहास मगध साम्राज्य का इतिहास है, इसलिए शताब्दियों से उत्तर भारत में एक सार्वदेशिक भाषा का विकास हो रहा था। यह भाषा वैदिक भाषा से उद्धुत् लौकिक संस्कृत से मिलती–जुलती थी और उसके समानान्तर प्रचलित हो रही थी। अशोक ने अपने प्रशासन और धर्म प्रसार के लिए इसी भाषा को अपनाया, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस भाषा का केन्द्र मगध था, जो मध्य देश (स्थानेसर और कजंगल की पहाड़ियों के बीच का देश) के पूर्व भाग में स्थित था, इसलिये

मागधी भाषा की इसमें प्रधानता थी, परन्तु सार्वजनिक भाषा होने के कारण दूसरे प्रदेशों की ध्वनियों और कहीं-कहीं शब्दों और मुहावरों को भी यह आत्मसात् करती जा रही थी। अशोक के अभिलेख मूलतः मगध साम्राज्य की केन्द्रीय भाषा में लिखे गए थे, फिर भी यह समझा गया कि दूरस्थ प्रदेशों की जनता के लिए यह प्रशासन और प्रचार की भाषा थोड़ी अपरिचित थी, इसलिए अशोक ने इस बात की व्यवस्था की थी कि अभिलेखों के मूल पाठों का विभिन्न प्रान्तों में आवश्यकतानुसार थोड़ा बहुत लिप्यन्तर और भाषान्तर कर दिया जाए। यही कारण है कि अभिलेखों के विभिन्न संस्करणों में पाठ भेद पाया जाता है। पाठ भेद इस तथ्य का सूचक है कि भारत के विभिन्न भागों में विभिन्न बोलियाँ थीं, जिनकी अपनी विशेषताएँ थीं। अशोक के अभिलेखों में विभिन्न बोलियों के शब्दरूप देखने से यह ज्ञात होता है कि मध्यभारतीय भाषा ही इस समय की सार्वदेशिक भाषा थी, मूलतः इसी में अशोक के अभिलेख प्रस्तुत हुए थे, इसे मागध अथवा मागधी भाषा भी कह सकते हैं, परन्तु यह नाटकों एवं व्याकरण की मागधी से भिन्न है। जहाँ मागधी प्राकृत में केवल तालव्य 'श्' का प्रयोग होता है, वहाँ अशोक के अभिलेखों में केवल दन्तव्य 'स्' का प्रयोग होता है। (अशोक के अभिलेख-डॉ.राजबली पाण्डेय, पृ.22-23)

इससे दो तथ्य फलित होते हैं, प्रथम तो यह कि अशोक के अभिलेखों की भाषा नाटकों और व्याकरण की मागधी प्राकृत से भिन्न है और उसमें अन्य बोलियों के शब्दरूप निहित हैं, इसलिए हम इसे अर्धमागधी भी कह सकते हैं। यद्यपि श्वेताम्बर आगमों में उपलब्ध अर्धमागधी की अपेक्षा यह किञ्चित् भिन्न है, फिर भी इतना निश्चित है कि यह दिगम्बर आगमों की अथवा नाटकों की शौरसेनी प्राकृत कदापि नहीं है। दिगम्बर आगमों की शौरसेनी के दो प्रमुख लक्षण माने जा सकते हैं-मध्यवर्ती 'त्' के स्थान पर 'द्' का प्रयोग और दन्त्य 'न्' के स्थान पर मूर्धन्य 'ण' का प्रयोग। अशोक के अभिलेखों में मध्यवर्ती 'त्' के स्थान पर 'द्' का प्रयोग कहीं भी नहीं देखा जाता है। शौरसेनी प्राकृत में संस्कृत 'भवति' का 'भवदि' या 'होदि' रूप मिलता है, जबकि अशोक के अभिलेखों में एक स्थान पर भी 'होदि' रूप नहीं पाया जाता। सर्वत्र 'होति' रूप पाया जाता है, जो अर्धमागधी का लक्षण है। इसी प्रकार 'पितृ' शब्द का 'पिति' या 'पितु' रूप मिलता है, जो कि अर्धमागधी का लक्षण है। शौरसेनी की दृष्टि से तो उसका 'पिदु' रूप होना था। इसी प्रकार, 'आत्मा' शब्द का शौरसेनी प्राकृत में 'आदा' रूप बनता है, जबकि अशोक के अभिलेखों में कहीं भी 'आदा' रूप नहीं मिला है। सर्वत्र 'अत्ने',

'अत्ना' –यही रूप मिलते हैं। इसी प्रकार, 'हित' का शौरसेनी रूप 'हिद' न मिलकर सर्वत्र ही हित शब्द का प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार, जहाँ शौरसेनी दन्त्य 'न्' के स्थान पर मूर्द्धन्य 'ण्' का प्रयोग पाया जाता है, वहाँ अशोक के मध्यभारतीय समस्त अभिलेखों में मूर्द्धन्य 'ण्' का पूर्णतः अभाव है और सर्वत्र दन्त्य 'न्' का प्रयोग हुआ है, पश्चिमी अभिलेखों में भी मूर्द्धन्य 'ण्' का यदा–कदा ही प्रयोग हुआ है, किन्तु सर्वत्र नहीं। पुनः, यह मूर्द्धन्य 'ण्' का प्रयोग तो महाराष्ट्री प्राकृत में भी पाया जाता है। अशोक के अभिलेखों की भाषा के भाषाशास्त्रीय दृष्टि से जो भी अध्ययन हुए हैं, उनमें जहाँ तक मेरी जानकारी है, किसी एक भी विद्वान् ने उनकी भाषा को शौरसेनी प्राकृत नहीं कहा है। यदि उसमें एक दो शौरसेनी शब्दरूप जो अन्य प्राकृतों यथा अर्धमागधी या महाराष्ट्री में भी कामन हैं, मिल जाते हैं, तो उसकी भाषा को शौरसेनी तो कदापि नहीं कहा जा सकता है, इसीलिए शायद प्रो. भोलाशंकरजी व्यास को भी दबी जुबान से यह कहना पड़ा कि शौरसेनी प्राकृत के प्राचीनतम रूप सम्राट अशोक के गिरनार शिलालेख में मिलते हैं। सम्भवतः, इसमें इतना संशोधन अपेक्षित है कि शौरसेनी प्राकृत के कुछ प्राचीन शब्दरूप गिरनार के शिलालेख में मिलते हैं, किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह शब्दरूप प्राचीन अर्धमागधी और महाराष्ट्री में भी मिलते हैं, अतः मात्र दो–चार शब्दरूप मिल जाने से अशोक के अभिलेख शौरसेनी प्राकृत के नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि उनमें शौरसेनी के विशिष्ट लक्षणों वाले शब्दरूप नहीं मिलते हैं। उसके आगे समादरणीय भोलाशंकरजी व्यास को उद्धृत् करते हुए डॉ. सुदीप जैन ने लिखा है कि इसके बाद परिशुद्ध शौरसेनी भाषा कषायपाहुड़सुत्त, षट्खण्डागमसुत्त, कुन्दकुन्द साहित्य एवं धवला, जयधवला आदि में प्रयुक्त मिलती है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि अशोक के अभिलेखों की मागधी अर्थात् अर्धमागधी से ही दिगम्बर जैन साहित्य की परिशुद्ध शौरसेनी विकसित हुई है। मैं यहाँ स्पष्ट रूप से यह जानना चाहूँगा कि क्या अशोक के अभिलेखों की भाषा में दिगम्बर जैन साहित्य की तथाकथित परिशुद्ध शौरसेनी अथवा नाटकों की शौरसेनी अथवा व्याकरणसम्मत शौरसेनी का कोई भी विशिष्ट लक्षण उपलब्ध होता है? जहाँ तक मेरी जानकारी है, अशोक के अभिलेखों की भाषा अन्य प्रदेशों के शब्दरूपों से प्रभावित मागधी प्राकृत है। वह मागधी और अन्य प्रादेशिक बोलियों के शब्दरूपों से मिश्रित एक ऐसी भाषा है, जिसकी सर्वाधिक निकटता जैन आगमों की अर्धमागधी से है। उसे शौरसेनी कहकर जो भ्रान्ति फैलाई जा रही है, वह सुनियोजित षड्यंत्र है। वस्तुतः, दिगम्बर आगम तुल्य ग्रन्थों की जिस भाषा को परिशुद्ध

शौरसेनी कहा जा रहा है, वह वस्तुतः न तो व्याकरणसम्मत शौरसेनी है और न नाटकों की शौरसेनी, अपितु अर्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री की ऐसी खिचड़ी है, जिसमें इनके मिश्रण के अनुपात भी प्रत्येक ग्रन्थ और उसके प्रत्येक संस्करण में भिन्न-भिन्न हैं।

इसकी चर्चा मैंने अपने लेख जैन आगमों की मूलभाषा मागधी या शौरसेनी में की है। शौरसेनी का साहित्यिक भाषा के रूप में तब तक जन्म नहीं हुआ था। नाटकों एवं दिगम्बर परम्परा में आगम रूप में मान्य ग्रन्थों की भाषा तो उसके तीन-चार सौ वर्ष बाद अस्तित्व में आई है। वस्तुतः दिल्ली, मथुरा एवं आगरा के समीपवर्ती उस प्रदेश में, जिसे शौरसेनी का जन्मस्थल कहा जाता है, अशोक के जो भी अभिलेख उपलब्ध हैं, उनमें शौरसेनी के लक्षणों यथा 'त्' का 'द्', 'न्' का 'ण्' आदि का पूर्ण अभाव है। मात्र यही नहीं, उसमें 'लाजा' (राजा) जैसा मागधी का शब्दरूप स्पष्टतः पाया जाता है। इसी प्रकार, गिरनार के अभिलेखों में भी शौरसेनी के व्याकरणसम्मत लक्षणों का अभाव है। उनमें अर्धमागधी के वे शब्दरूप, जो शौरसेनी में भी पाये जाते हैं, देखकर यह कह देना कि अशोक के अभिलेखों की भाषा क्षेत्रीय प्रभावों से युक्त शौरसेनी में है, यह उचित नहीं है। उसे अर्धमागधी तो माना जा सकता है, किन्तु शौरसेनी कदापि नहीं माना जा सकता है। पाठकों को स्वयं निर्णय करने के लिए यहाँ दिल्ली टोपरा के अशोक के अभिलेखों का मूलपाठ प्रस्तुत है-

दिल्ली टोपारा स्तम्भ प्रथम अभिलेख

(धर्मपालन से इहलोक से परलोक की प्राप्ति)

(उत्तराभिमुख)

1. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं आहा (1) सडुवीसति-
2. वस अभिसितेन मे इयं धंमलिपि लिखापिता (2)
3. हिदतपालते दुसंपटिपादये अंनत अगाया धंमकामताया
4. अगाय पलीखाया अगाय सुसूयाया अगेन भयेन
5. अगन उसाहेना (3) एस चु खो मम अनुसथिया धंमा-
6. पेखा धंमकामता चा सुवे सुवे वडिता वडीसति चेवा (4)
7. पुलिसा पि च मे उकसा चा गेवया चा मझिमा चा अनुविधीयंती

8. संपटिपादयंति चा अलं चपलं समादपयितवे (5) हेमेमा अंत–
9. महामात पि (6) एस हि विधि या इयं धंमेन पालना धंमेन विधाने
10. धंमेन सुखियना धंमेन गोती ति (7)

द्वितीय अभिलेख

(उत्तराभिमुख)

1. देवानंपिये पियदसि लाज
2. हेवं आहा (1) धंमे साधू कियं धंमे ति (2) अपासिनवे वहुकयाने
3. दया दाने सोचये (3) चखुदाने पि मे बहुविधे दिने (4) दुपद–
4. चतुपदेसु पखिवालिचलेसु विविधे मे अनुगहे कटे आ पान–
5. दाखिनाये (5) अंनानि पि च मे बहूनि कयानानि कटानि (6) एताये मे
6. अठाये इयं धंमलिपि लिखापिता हेवं अनुपटिपजंतु चिलं–
7. थितिका च होतू तीति (7) ये च हेवं संपटिपजीसति से सुकटं कछती ति।

तृतीय अभिलेख

(उत्तराभिमुख)

आत्मनिरीक्षण

1. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं अहा (1) कयानं मेव देखति इयं मे
2. कयाने कटे ति (2) नो मिन पापं देखति इयं मे पापे कटे ति इयं वा आसिनवे
3. नामाति (3) दुपटिवेखे चु खो एसा (4) हेवं चु खो एस देखिये (5) इमानि
4. आसिनवगामीनि नाम अथ चंडिये निठलिये कोधे माने इस्या
5. कालनेन व हकं मा पलिभसयिसं (6) एस बाढ़ देखिये (7) इयं मे
6. हिदतिकाये इयंमन मे पालतिकाये

चतुर्थ अभिलेख

(पश्चिमाभिमुख)

(रज्जकों के अधिकार और कर्त्तव्य)

1. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं आहा (1) सडुवीसतिवस–
2. अभिसितेन मे इयं धंमलिपि लिखापिता (2) लजूका मे
3. बहूसु पानसतसहसेसु जनसि आयता (3) तेसं ये अभिहाले वा पवतयेवू जनस जानपदसा हितसुखं उपदहेवू पवत
4. दंडे वा अतपतिये मे कटे किंति लजूका अस्वथ अभीता
5. कंमानि पवतयेवू जनस जानपदसा हितसुखं उपदहेवू
6. अनुगहिनेव च (4) सुखीयनं दुखीयनं जानिसंति धंमयुतेन च
7. वियोवदिसंति जनं जानपद किंति हिदतं च पालतं च
8. आलाधयेवू ति (5) लजूका पि लघंति पटिचलितवे मं (6) पुलिसानि पि मे
9. छंदनानि पटिचलिसंति (7) ते पि च कानि वियोवदिसंति येन मं लजूका
10. चघंति आलाधयितवे (8) अथा हि पजं वियताये धातिये निसिजितु
11. अस्वथे होति वियत धाति जघति मे पजं सुखं पलिहटवे
12. हेवं ममा लजूका कटा जानपदस हितसुखाये (9) येन एते अभीता
13. अस्वथ संतं अविमना कंमानि पवतयेवू ति एतेन मे लजूकानं
14. अभिहाले व दंडे वा अतपतिये कटे (10) इछितविये हि एसा किंति
15. वियोहालसमता च सिय दंडसमता चा (11) अव इते पि च मे आवुति
16. बंधनबदानं मुनिसानं तीलितदंडानं पतवधानं तिंनि दिवसानि मे
17. योते दिने (12) नातिका व कानि निझपयिसंति जीविताये तानं
18. नासंते वा निझपयिता वा नं दाहंति पालतिकं उपवासं व कछंति (13)
19. इछा हि मे हेवं निलुधसि पि कालसि पालतं आलाधयेवू ति (14) जनस च
20. बढ़ति विविधे धंमचलने संयमे दानसविभागे ति (15)

पञ्चम अभिलेख

(दक्षिणाभिमुख)

(जीवों का अभयदान)

1. देवानंप्रिये पियदसि लाज हेवं अहा (1) सडुवीसतिवस–
2. अभिसितेन मे इमानि जातानि अवधियानि कटानि सेयथा
3. सुके सालिका अलुने चकवाके हंसे नंदीमुखे गेलाटे
4. जतूका अंबाकपीलिका दळी अनठिकमछे वेदवेयके
5. गंगा पुपुटके संकुजमछे कफटसयके पंनससे सिमले
6. संकडे ओकपिंडे पलसते सेतकपोते गामकपोते
7. सवे चतुपदे ये पटिभागं नो एति न च खादियती (2).... रि
8. एळका चा सकूली चा गभिनी वा पायमीना व अवधिय प तके
9. पि च कानि आसंमासिके (3) वधिकुकुटे नो कटविये (4) तुसे सजीवे
10. न झापेतविये (5) दावे अनठाये वा विहिसाये वा नो झापेतविये (6)
11. जीवेन जीवे नो पुसितविये (7) तीसु चातुंमासीसु तिसायं पुंनमासियं
12. तिंनि दिवसानि चावुदसं पंनडसं पटिपदाये धुवाये चा
13. अनुपोसथं मछे अवधिये नो पि विकेतविये (8) एतानि येवा दिवसानि
14. नागवनसि केवटभोगसि यानि अंनानि पि जीवनिकायानि
15. न हंतवियानि (9) अठमीपखाये चावुदसाये पंनडसाये तिसाये
16. पुनावसुने तीसु चातुंमासीसु सुदिवसाये गोने नो नीलखिविये
17. अजके एडके सूकले ए वा पि अंने नीलखियते नो वीलखितविये (10)
18. तिसाये पुनावसुने चातुंमासिये चातुंमासि पखाये अस्वसा गोनसा
19. लखने नो कटविये (11) यावसडुवीसतिवस अभिसितेन मे एताये
20. अंतलिकाये पंनवीसति बंधनमोखानि कटानि (12)

षष्ठ अभिलेख

(अ–पूर्वाभिमुख)

(धर्मवृद्धिः धर्म के प्रति अनुराग)

1. देवानांपिये पियदसि लाज हेवं अहा (1) दुवाडस
2. वस अभिसितेन मे धंमलिटि लिखापिता लोकसा
3. हितसुखाये से तं अपहटा तं तं धंमवडि पापो वा (?)
4. हेवं लोकसा हितसुखेति पटिवेखामि अथ इयं
5. नातिसु हेवं पतियासंनेसु हेवं अपकटेसु
6. किमं कानि सुखं अवहामी ति तथ च विदहामि (3) हे मे वा
7. सवनिकायेसु पटिवेखामि (4) सव पासंडा पि मे पूजिता
8. विविधाय पूजाया (5) ए चु इयं अतना पचूपगमने
9. से मे मोख्यमते (6) सडुविसति वस अधिसितेन मे
10. इयं धंमलिपि लिखापिता (7)

सप्तम अभिलेख

(अ) पूर्वाभिमुख

(धर्मप्रचार का सिंहावलोकन)

1. देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा (1) ये अतिकंतं
2. अंतलं लाजाने हुसु हेवं इछिसु कथं जने
3. धंमवडिया वढ़ेया नो चु जने अनुलुपाया धंमवडिया
4. वडिथा (2) एतं देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा (3) एस मे
5. हुथा (4) अतिकंतं चअंतलं हेवं इछिसु लाजाने कथं जने
6. अनुलुपाया धंमवडिया वढेया ति नो च जने अनुलुपाया
7. धंमवडिया वडिथा (5) से किनसु जने अनुपटिपजेया (6)
8. किनसु जने अनुलुपाया धंमवडिया वढेया ति (7) किनसु कानि

9. अभ्युंनामयेहं धंमवडिया ति (8) देवानंपिये पिददसि लाजा हेवं
10. आहा (9) एस मे हुथा (10) धंमसावनानि सावापयामि धंमानुसथिनि
11. अनुसासामि (11) एतं जने सुतु अनुपटीपजीसति अभ्युंनमिसति
12. धंमवडिया च वाडं वडिसति (12) एताये मे अठाये धंमसावनानि सावापितानि धंमानुसथिनि विविधानि आन पितानि य....ि..... सा पि बहुने जनसि आयता ए ते पलियो वदिसंति पिपवियलिसंति पि (13) लजूका पि बहुकेसु पानसहसेसु आयता ते पि मे अनपिता हेवं च हेवं च पलियोवदाथ
13. जनं धंमयुतं (14) देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा (15) एतमेव मे अनुवेखमाने धंमथंभानि कटानि धंममहामाता कटा धंम... कटे (16) देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा (17) मगेसु पि मे निगोहानि लोपापितानि छायोपगानि होसंति पसुमुनिसानं अंबावडिक्या लोपापिता (17) अढकासिक्यानि पि मे उदुपानानि
14. खानापापितानि निसिढया च कालापिता (18) आपानानि मे बहुकानि तत तत कालपितानि पटीभोगाये पसुमुनिसानं (19) ल...एस पटीभोगे नाम (20) विविधाया हि सुखापनाया पुलिमेहि पि लाजीहि ममया च सुखयिते लोके (21) इमं चु धंमानु पटीपती अनुपटीपजंतु ति एतदथा मे
15. एस कटे (22) देवानंपिये पियदसि हेवं आहा (23) धंममहामाता पि मे ते बहुविधेसु अठेसु आनुगहिकेसु वियापटासे पवजीतानं चेव गिहिथानं च सव.... डेसु पि च वियापटासे (24) संघठसि पि मे कटे इमे वियापटा होहंति ति हेमेव बाभनेसु आजीविकेसु पि मे कटे
16. इमे वियापटा होंहंति ति निगंठेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति नानापासंडेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति ति पटिविसिठं पटीविसिठं तेसु तेसु ते...माता (25) धंममहामाता चु मे एतेसु चेव वियापटा सवेसु च पासंडेसु (26) देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा (27)
17. एते च अंने च बहुका मुखा दान-विसगसि वियापटासे मम चे व देविनं च। सवसि च मे ओलोधनसि ते बहुविधेन आ(का) लेन तानि तानि तुठायतनानि पटी (पादयंति) हिद एव दिसासु च। दालकानां पि च मे कटे। अंनानं च देवि-कुमालानं इमे दानविंसगेसु

वियापटा होहंति ति

18. धंमापदानठाये धंमानुपटिपतिये (28) ए हि धंमापदाने धंमपटीपति च या इयं दया दाने सचे सोचवे च मदवे साधवे च लोकस हेवं वडिसति ति (29) देवानंपिये प ...स लाजा हेवं आहा (30) यानि हि कानिचि ममिया साधवानि कटानि तं लोके अनपटोपंने तं च अनुविधियंति (31) तेन वडिता च

19. वडिसंति च मातापितुसु सुसुसाया गुलुसु सुसुसाया वयोमहालकानं अनुपटीपतिया बाभनसमनेसु कपनवलाकेसु आव दासभटकेसु संपटीपतिया (32) देवानंपिय ... यदसि लाजा हेवं आहा (33) मुनिसानं चु या इयं धंमवडि वडिता दुवेहि येव आकालेहि धंमनियमेन च निझतिया च (34)

20. तत चु लहु से धंमनियमे निझतिया व भुये (35) धंमनियमे चु खो एस ये मे इयं कटे इमानि च इमानि जातानि अवधियानि (36) अंनानि पि चु बहुकं.... धंमनियमानि यानि मे कटानि (37) निझतिया व चु भुये भुनिसानं धंमवडि वडिता अविहिंसाये भुतानं

21. अनालंभाये पानानं (38) से एताये अथाये इयं कटे पुतापपोतिके चंदमसुलिपिके होतु ति तथा च अनुपटीपजंतु ति (39) हेवं हि अनुपटीपजंतं हिदत पालते आलधे होति (4) सतविसतिवसाभिसितेन मे इयं धंमलिवि लिखापापिता ति (41) एतं देवानंपिये आहा (42) इयं

22. धंमलिबि अत अथि सिलाथंभानि वा सिला फलकानि वा तत कटविया एन एस चिलठितिके सिया (43)

****

8 क्या ब्राह्मी लिपि में 'न्' और 'ण्' के लिए एक ही आकृति थी?

शौरसेनी एवं किसी सीमा तक महाराष्ट्री प्राकृत की भी यह विशेषता है कि उसमें 'नो णः सर्वत्र' अर्थात् सर्वत्र 'न्' का 'ण्' होता है (प्राकृतप्रकाश, 2/42), जबकि अर्धमागधी में 'न्' और 'ण्' दोनों विकल्प पाये जाते हैं। अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत से भिन्न शौरसेनी की दूसरी अपनी निजी विशेषता यह है कि उसमें मध्यवर्ती असंयुक्त 'त्' का सदैव 'द्' (तृतीय वर्ण) हो जाता है, किन्तु जब अभिलेखीय प्राकृत, विशेष रूप से अशोक, खारवेल और मथुरा के जैन अभिलेखों में ये विशेषताएँ परिलक्षित नहीं हुईं, तो शौरसेनी की अतिप्राचीनता का दावा खोखला सिद्ध होने लगा, अतः अपने बचाव में डॉ.सुदीप जैन ने आधारहीन एक शगूफा छोड़ा या आधारहीन तथ्य प्रस्तुत किया और वह भी भारतीयलिपिवद् और पुरातत्त्ववेत्ता पं. गौरीशंकरजी ओझा के नाम से, कि ब्राह्मी लिपि में 'न्' और 'ण्' वर्णों के लिए एक ही आकृति (लिपि अक्षर) प्रयुक्त होती थी, किन्तु उन्होंने उनके इस कथन का कोई भी प्रमाण या संदर्भ प्रस्तुत नहीं किया। मुझे तो ऐसा लगता है कि सुदीपजी को जब कभी अपने समर्थन में अप्रामाणिक रूप से कुछ गोलमाल करना होता है, तो वे किसी बड़े व्यक्ति का नाम दे देते हैं, किन्तु यह उल्लेख नहीं करते कि उनका यह कथन अमुक पुस्तक के अमुक संस्करण में अमुक पृष्ठ पर है। वरिष्ठ विद्वानों के नाम से बिना प्रमाण के भ्रामक प्रचार करना उनकी विशेषता है। मैंने जब अपने लेखों 'न्' और 'ण' में प्राचीन कौन? और 'अशोक के अभिलेखों की भाषा' में यह सिद्ध कर दिया

कि प्राकृत में 'न्' का प्रयोग ही प्राचीन है और 'ण्' का प्रयोग परवर्ती है, तो उन्होंने पं. ओझा के नाम से अपने सम्पादकीय में बिना प्रामाणिक सन्दर्भ दिये यह लिखना प्रारम्भ कर दिया कि ईसा पूर्व के ब्राह्मी शिलालेखों में 'न्' वर्ण और 'ण्' वर्ण के लिए एक ही आकृति का प्रयोग होता था। डॉ.सुदीपजी इस सम्बन्ध में प्राकृतविद्या, अप्रैल-जून 1997, पृ.7 पर एवं जनवरी-मार्च 1998, पृ.7-8 पर क्रमशः लिखते हैं कि -

'इसी प्रकार प्राकृत के 'नो णः सर्वत्र' नियम का अपवाद इन शिलालेखों में प्रायः 'न्' पाठ की उपलब्धि बताया गया है। स्व.ओझाजी ने इसका समाधान देते हुए लिखा है कि प्राचीन भारतीय लिपियों, विशेषतः ब्राह्मी लिपि में 'न्' एवं 'ण्' वर्णों के लिए एक ही आकृति (लिपि अक्षर) प्रयुक्त होते थे। जैसे कि अंग्रेजी में (एन) का प्रयोग 'न्' एवं 'ण्' दोनों के लिए होता है। तब उसे 'न्' पढ़ा ही क्यों जाये? जब प्राकृत में 'ण्'कार के प्रयोग का ही विधान है और उसे उक्त नियमानुसार 'ण्' पढ़ा जा सकता है, तो एक कृत्रिम विवाद की क्या सदाशयता हो सकती है? किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने 'न्' पाठ रख दिया और उसे देखकर हमने कह दिया कि शिलालेखों की प्राकृत में 'ण्' का प्रयोग नहीं है। कई साहसी विद्वान तो इसके बारे में यहाँ तक कह गये हैं कि प्राकृत में 'न्' का प्रयोग प्राचीन है और 'ण्' का प्रयोग परवर्ती है। यह वस्तुतः एक अविचारित, शीघ्रतावश किया गया वचन-प्रयोग मात्र है।

जो विद्वान् ईसा पूर्व के शिलालेखों में 'न्'कार के प्रयोग का प्रमाण देते हैं, वे वस्तुतः शिलालेखों एवं प्राकृत के इतिवृत्त से वस्तुतः परिचित ही नहीं हैं। वस्तुस्थिति यह है कि ईसा पूर्व के शिलालेखों में प्रयुक्त लिपि में 'न्' वर्ण एवं 'ण्' वर्ण के लिए एक ही आकृति का प्रयोग होता था- यह तथ्य महान् लिपिविशेषज्ञ एवं पुरातत्त्ववेत्ता रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारतीय लिपिमाला' में स्पष्टतः घोषित किया है :-

1. इस सन्दर्भ में प्रथम आपत्ति तो यही है कि यदि पं. गौरीशंकरजी ओझा ने ऐसा लिखा है, तो भाई सुदीपजी ससंदर्भ उसे उद्धृत् क्यों नहीं करते कि पं. ओझाजी ने अमुक ग्रन्थ के अमुक संस्करण में अमुक पृष्ठ पर यह लिखा है? या तो वे इसका स्पष्ट रूप से प्रमाण दें, अन्यथा विद्वानों के नाम से व्यर्थ भ्रम न फैलायें।

2. उन्होंने पं. गौरीशंकरजी ओझा का नाम लेकर इस बात को कि ईस्वी पूर्व के शिलालेखों में 'न्' और 'ण्' के लिए एक ही आकृति का प्रयोग होता था– प्राकृतविद्या, अप्रैल–जून 1997, पृ.7 पर और प्राकृतविद्या, जनवरी–मार्च 1998, पृ.8 पर उद्धृत् किया है। प्राकृतविद्या, अप्रैल–जून 1997, पृ.7 पर ओझाजी के नाम से वे लिखते हैं 'प्राचीन भारतीय लिपियों, विशेषतः ब्राह्मी लिपि में 'न्' और 'ण्' वर्णों के लिए एक ही आकृति (लिपि अक्षर) प्रयुक्त होती थी', जबकि प्राकृतविद्या, जनवरी–मार्च 1998, पृ.8 पर वे लिखते हैं कि 'ईसा पूर्व के शिलालेखों में प्रयुक्त लिपि में 'न्' वर्ण और 'ण्' वर्ण के लिए एक ही आकृति का प्रयोग होता था।' इन दोनों स्थानों पर कथ्य चाहे एक हो, किन्तु उनका भाषायी प्रारूप भिन्न भिन्न है। किसी भी व्यक्ति का कोई भी उद्धरण चाहे कितनी ही बार उद्धृत् किया जाये, उसका भाषायी स्वरूप एक ही होता है। यहाँ इस विविधता का तात्पर्य यही है कि वे पं. ओझाजी के कथन को अपने ढंग से तोड़–मरोड़ कर प्रस्तुत कर रहे हैं। वैसे सुदीपजी इस विधा में पारंगत हैं, वे बिना प्रामाणिक सन्दर्भ के किसी भी बड़े विद्वान् के नाम पर कुछ भी तोड़–मरोड़ कर कह देते हैं, किन्तु उन्हें यह ध्यान में रखना चाहिए कि पं. गौरीशंकरजी ओझा दिवंगत हैं, उनके सन्दर्भ में जो कुछ लिखें, उसके लिए उनके ग्रन्थ, संस्करण और पृष्ठ संख्या का अवश्य उल्लेख करें; क्योंकि अपनी पुस्तक भारतीय प्राचीन लिपिमाला के लिपि पत्र क्रमांक 1, 4, 6 (सभी ई.पू.) में स्वयं ओझाजी ने ब्राह्मी लिपि में 'न्' और 'ण्' की आकृतियों में रहे अन्तर को स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया है। अशोक के अभिलेखों में गिरनार अभिलेख के आधार पर निर्मित लिपिपत्र क्रमांक 1 (ईसा पूर्व 3 री शती) में उन्होंने 'न्' और 'ण्' की आकृतियों का यह अन्तर निर्दिष्ट किया है, उसमें 'न्' के लिए (⊥) और 'ण्' के लिए (⊥) ये आकृतियाँ हैं, इस प्रकार दोनों आकृतियों में आंशिक निकटता तो है, किन्तु दोनों एक नहीं हैं। पुनः स्व. ओझाजी ने अशोक के अभिलेख का जो 'लिप्यन्तरण' किया है, उसमें भी कहीं भी उन्होंने 'ण्' नहीं पढ़ा सर्वत्र उसे दन्त्य न् (⊥)अर्थात् 'न्' ही पढ़ा है।

मात्र यही नहीं, उन्होंने इस लिपिपत्र में 'न्' के दो रूपों (⊥) एवं (⊥) का भी निर्देश किया है और मात्र इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी बताया है कि मात्रा लगने पर

दन्त्य न और मूर्द्धन्य ण की आकृतियाँ किस प्रकार बनती हैं यथा – 'नि' ( ) 'नु'( ) 'नो' ( ) । इसके विपरीत, मूर्द्धन्य 'ण्' पर 'ए' की मात्रा लगने पर जो आकृति बनती है, वह बिल्कुल भिन्न है यथा 'णे' ( ) । इससे यह सिद्ध होता है कि अशोक के काल में ब्राह्मी लिपि में 'न्' और 'ण्' की आकृति एक नहीं थी। ज्ञातव्य है कि अशोक के अभिलेखों में जहां गिरनार के अभिलेख में न ( ) और ण ( ) दोनों विकल्प से उत्कीर्ण मिलते हैं, वहां उत्तर–पूर्व के अभिलेखों में प्रायः न् ( ) ही मिलता है। यह तथ्य पं. ओझाजी के लिपिपत्र दो से सिद्ध होता है। लिपिपत्र तीन, जो रामगढ़, नागार्जुनी गुफा, भरहुत और सांची के स्तूप लेखों पर आधारित है, उसमें भी 'न्' और 'ण्' दोनों की अलग–अलग आकृतियाँ हैं– उसमें न के लिए ( ) और ण के लिए ( ) आकृतियाँ हैं। ई.पू. दूसरी शताब्दी से जब अक्षरों पर सिरे बाँधना प्रारम्भ हुए तो न् और ण् की आकृति समरूप न हो जाए, इससे बचने हेतु 'ण्' की आकृति में थोड़ा परिवर्तन किया गया और उसे किञ्चित् भिन्न प्रकार से लिखा जाने लगा–

न		नि		नो	
ण		णी		णो	

इसी प्रकार, लिपिपत्र चौथे से भी यही सिद्ध होता है कि ई.पू. में ब्राह्मी अभिलेखों में 'न्' और 'ण्' की आकृतियाँ भिन्न थीं। लिपिपत्र पाँच जो पभोसा और मथुरा के ई.पू. प्रथम शती के अभिलेखों पर आधारित है, उसमें जो लेख पं. ओझाजी ने उद्धृत किया है, उसमें भी 'न्' और 'ण्' की आकृतियाँ भिन्न भिन्न ही हैं। साथ ही उसमें 'ण्' का प्रयोग विरल है। उस लेखांश में जहाँ पाँच बार 'न्' का प्रयोग है वहाँ 'ण्' का प्रयोग मात्र दो बार ही है, अर्थात् 70 प्रतिशत न् है और 30 प्रतिशत ण् है। इसका तात्पर्य यह है कि वह मथुरा, जिसे शौरसेनी का उत्पत्ति स्थल माना जाता है और जहाँ की भाषा पर 'णो नःसर्वत्र' का सिद्धान्त लागू किया जाता है, वहाँ भी ई.पू. प्रथम शती में जब यह स्थिति है, तो उस तथाकथित शौरसेनी की प्राचीनता का दावा कितना आधारहीन है, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। मथुरा के अभिलेखों में ईसा की प्रथम–दूसरी शती तक भी 'णो नः सर्वत्र' और मध्यवर्ती 'त्' के 'द्' होने का दावा करने वाली उस तथाकथित शौरसेनी का कहीं अता पता ही नहीं है।

ई. सन् की प्रथम–दूसरी शती के लिपिपत्र सात के अवलोकन से ज्ञात होता है कि

दक्षिण भारत में, विशेष रूप से नासिक के शक उषवदात् (ऋषभदत्त) के अभिलेख में, 'न्' और 'ण्' की आकृति पूर्ववत् अर्थात् (𑀦) और (𑀡) के रूप में स्थिर रही है और इस लेखांश में 54 प्रतिशत 'न्' और 46 प्रतिशत 'ण्' के प्रयोग हैं तथा 'ण्' के पाँच रूप और 'न्' के तीन रूप पाये जाते हैं–यथा

'ण्' 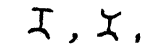

'न्' 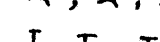

इस समग्र विवेचन से यह ज्ञात होता है कि ईस्वी पूर्व तीसरी शती से अर्थात् जब से अभिलिखित सामग्री प्राप्त होती है 'न्' और 'ण्' के लिए ब्राह्मी लिपि में सदैव ही भिन्न-भिन्न आकृतियाँ रही हैं, जिसका स्पष्ट निर्देश पं. गौरीशंकरजी ओझा ने अपने उपरोक्त लिपिपत्रों में किया है, अतः उनके नाम पर डॉ.सुदीपजी का यह कथन नितान्त मिथ्या है कि 'जब ब्राह्मी लिपि में न् और ण् के लिए एक ही आकृति का प्रयोग होता था, तो उसे 'न्' पढ़ा ही क्यों जाए?' जब न् और ण् के लिए प्रारम्भ से ही ब्राह्मी लिपि में अलग-अलग आकृतियाँ निश्चित हैं, तो फिर 'न्' को न् और 'ण्' को ण् ही पढ़ना होगा। पुनः, जहाँ पूर्व एवं उत्तर भारत के अशोक के अभिलेखों में प्रायः 'ण्' का अभाव है, वहीं पश्चिमी भारत के उसके अभिलेखों में क्वचित् रूप से 'ण्' के प्रयोग देखे जाते हैं, किन्तु इस विश्लेषण से एक नया तथ्य यह भी ज्ञात होता है कि मध्यप्रदेश एवं पश्चिम भारत में भी 'ण' के प्रयोग में कालक्रम में भी अभिवृद्धि हुई है। जहाँ उत्तर पूर्व एवं मध्यभारत के ई.पू. तीसरी शती के अशोक के अभिलेखों में 'ण्' का प्रायः अभाव है, वहीं पश्चिमी भारत के उसके अभिलेखों में 'ण्' का प्रयोग 10 प्रतिशत से कम है। उसके पश्चात् ई.पू. प्रथम शती के मथुरा और पभोसा के अभिलेखों में 'ण्' का प्रयोग 25 प्रतिशत से 30 प्रतिशत मिलता है, किन्तु इसके लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् पश्चिम-दक्षिण में नासिक के अभिलेख में यह बढ़कर 50 प्रतिशत हो जाता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि 'ण'कार प्रधान शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतें 'न्' कार प्रधान मागधी या अर्धमागधी की अपेक्षा परवर्ती काल में विकसित हुई हैं। अतः, मागधी या अर्धमागधी की अपेक्षा शौरसेनी की प्राचीनता का तथा ब्राह्मी अभिलेखों में न् और ण् के लिए एक आकृति के प्रयोग का पं. ओझाजी के नाम से प्रचारित डॉ.सुदीपजी का दावा भ्रामक है।

भारतीय प्राचीन लिपिमाला में पं. ओझाजी द्वारा ही प्रस्तुत उक्त तथ्य उनके इस

भ्रम को तोड़ने में पर्याप्त हैं कि प्राचीनकाल में ब्राह्मी लिपि में 'न्' और 'ण्' के लिए एक ही लिपि का प्रयोग होता था। डॉ.सुदीपजी ने पं. ओझा के मन्तव्य को किस प्रकार तोड़ा-मरोड़ा है, यह तथ्य तो मुझे ओझाजी की पुस्तक भारतीय प्राचीन लिपिमाला के आद्योपान्त अध्ययन के बाद ही पता चला।

लिपिपत्र 67, जो खरोष्ठी लिपि से सम्बन्धित है, के विवेचन में भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ.100 पर पं. ओझा लिखते हैं कि 'यह लिपिपत्र क्षत्रप राजुल के समय के मथुरा से मिले हुए सिंहाकृति वाले स्तम्भ सिरे के लेखों, तक्षशिला से मिले हुए क्षत्रप पतिक के ताम्रलेख और वहीं से मिले हुए एक पत्थर के पात्र पर उकेरे लेख से तैयार किया गया है। इस लिपिपत्र के अक्षरों में 'उ' की मात्रा का रूप ग्रन्थि बनाया है और 'न्' तथा 'ण्' में बहुधा स्पष्ट अन्तर नहीं पाया जाता है। मथुरा के लेखों में कहीं-कहीं 'त्' 'न्' तथा 'र्' में भी स्पष्ट अन्तर नहीं है।' इसके पश्चात् ओझाजी ने एक अभिलेख का वह अंश दिया, जिसका नागरी अक्षरान्तर इस प्रकार है-

'सिहिलेन सिहरछितेन च भतरेहि तखशिलाए अयं युवो प्रतिथवितो सवबुधन पुयए'

इसकी पादटिप्पणी में पुनः ओझाजी लिखते हैं कि - 'सिहिलेन से लगाकर पुयए' तक के इस लेख में तीन बार 'ण्' या 'न्' आया है, जिसकों दोनों तरह से पढ़ सकते हैं, क्योंकि उस समय के आसपास के खरोष्ठी लिपि के कितने ही लेखों में 'न्' और 'ण्'में स्पष्ट भेद नहीं पाया जाता।

पं. ओझाजी के शब्दों से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जो बात उन्होंने खरोष्ठी लिपि के सन्दर्भ में कही है, उसे सुदीपजी ने कैसे ब्राह्मी पर लागू कर दिया? प्राकृतविद्या, अप्रैल-जून 1997 में वे बड़े दावे के साथ लिखते हैं कि 'प्राचीन भारतीय लिपि, विशेषतः ब्राह्मी लिपि, में 'न्' और 'ण्' के लिए एक ही आकृति (लिपि अक्षर) प्रयुक्त होती थी।' या तो वे इस तथ्य को ही कहीं प्रमाण रूप से प्रस्तुत करें अथवा वरिष्ठ विद्वानों के नाम से अपने पक्ष के समर्थन में भ्रामक रूप से तोड़-मरोड़ कर तथ्यों को प्रस्तुत न करें। यह लिपिपत्र एवं लेख-सभी खरोष्ठी से सम्बन्धित हैं। पुनः, यहाँ भी ओझाजी ने स्वयं 'न्' ही पढ़ा है, 'ण्' नहीं, मात्र पाद टिप्पणी में अन्य सम्भावना के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण दिया है। इसे भी 'न्' ही क्यों पढ़ा जाए 'ण्' क्यों नहीं पढ़ा जाए इसके भी कारण हैं। सर्वप्रथम तो हमें उस लेख की भाषा के स्वरूप, क्षेत्र एवं काल का विचार करना होगा, फिर यह देखना

होगा कि उस काल में उस क्षेत्र में किस प्रकार की भाषा प्रचलित थी, क्योंकि देश और काल के भेद से भाषा का स्वरूप बदलता है और उसकी उच्चारण शैली भी बदलती है।

पं. जगमोहन वर्मा (प्राचीन भारतीय लिपिमाला, पृ.30) का तो यहाँ तक कहना है कि ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्.. ये मूर्द्धन्य वर्ण पाश्चात्य अनार्यों के प्रभाव से भारतीय आर्य भाषा में सम्मिलित किये गये। उनकी यह अवधारणा कितनी सत्य है यह विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु आनुभाविक स्तर पर इतना तो सत्य है कि उत्तर-पश्चिम की बोलियों और भाषाओं में आज भी इनका प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक होता है। प्राकृतों में भी परवर्ती प्राकृतों और अपभ्रंशों में ही अपेक्षाकृत इनका प्रयोग अधिक होता है।

खरोष्ठी लिपि में 'न्' को मूर्धन्य 'ण्' पढ़ा जाये अथवा दन्त्य 'न्' पढ़ा जाये, इसका समाधान यह है कि जहाँ तक साहबाजगढ़ी और मान्सेरा के अशोक के अभिलेखों का प्रश्न है, वे चाहे खरोष्ठी लिपि में लिखे गये हैं, किन्तु उनकी भाषा मूलतः मागधी ही है, अतः उस काल की मागधी भाषा की प्रकृति के अनुसार उनमें आये हुए 'न्' को दन्त्य 'न्' ही पढ़ना होगा। पुनः, वे ही लेख जिन-जिन स्थानों पर ब्राह्मीलिपि उत्कीर्ण हुए हैं और यदि वहाँ उनमें आये 'न्' को यदि दन्त्य 'न्' के रूप में उत्कीर्ण किया गया है, तो यहाँ भी हमें उन्हें दन्त्य 'न' के रूप में पढ़ना होगा, क्योंकि उच्चारण/ पठन भाषा की प्रकृति के आधार पर होता है, लिपि की प्रकृति के आधार पर नहीं। आज भी अंग्रेजी में उच्चारण भाषा की प्रकृति के आधार पर ही होता है। अक्षर की आकृति के आधार पर नहीं। उदाहरणार्थ (**C**) का उच्चारण 'क', कभी 'श' और कभी 'च' होता है। यहाँ भी हमें यह स्वतन्त्रता नहीं है कि अपनी इच्छा से कोई भी उच्चारण कर लें।

एक दूसरा उदाहरण लें, यदि संस्कृत या हिन्दी भाषा का कोई शब्द रोमन में लिखा गया है और यदि उसके लेखन में डाईक्रिटिकल चिह्नों का उपयोग नहीं किया गया है तो हमें उन रोमन वर्णों का उच्चारण संस्कृत या हिन्दी की प्रकृति के आधार पर करना होगा, रोमन लिपि के आधार पर नहीं। अतः, मागधी भाषा के खरोष्ठी लिपि में लिखे गये लेख का उच्चारण तो मागधी की प्रकृति के आधार पर ही होगा और मागधी की प्रकृति के आधार पर वहाँ 'न्' ही पढ़ना होगा, 'ण्' नहीं।

पुनः, खरोष्ठी लिपि में पैशाची प्राकृत के भी लेख हैं, उनका उच्चारण पैशाची प्राकृत के आधार पर ही होगा। ज्ञातव्य है कि पैशाची प्राकृत में तो 'ण्' का भी 'न्' होता है। इस

सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर स्वयं डॉ.सुदीपजी द्वारा उद्धृत प्राकृतशब्दानुशासन का सूत्र दे रहा हूँ–न णोः पैशाच्यां (3/2/43) अर्थात् वैशाखी प्राकृत में 'ण्' का भी 'न्' होता है, अतः पैशाची प्राकृत के खरोष्ठी लिपि में लिखे गये अभिलेखों में, चाहे वहाँ लिपि में 'ण्' और 'न्' में अन्तर नहीं हो, वहाँ भी पैशाचीप्राकृत की प्रकृति के अनुसार वह 'न्' ही है और उसे 'न्' ही पढ़ना होगा।

इसके अतिरिक्त, एक सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पैशाची प्राकृत में 'न्' और 'ण्' की अलग व्यवस्था न हो और उसमें सर्वत्र 'न्' का प्रयोग विहित हो तथा इसी कारण परवर्ती खरोष्ठी अभिलेखों में 'ण्' के लिए कोई अलग से लिप्यक्षर न हो, किन्तु अर्धमागधी में 'न्' और 'ण्'–दोनों विकल्प पाये जाते हैं, अतः अशोक के मागधी के अभिलेख जब मान्सेरा और शाहबाजगढ़ी में खरोष्ठी में उत्कीर्ण हुए, तो उनमें 'ण' और 'न' के लिए अलग–अलग लिप्यक्षर निर्धारित हुए हैं। पं. ओझाजी ने भी अपनी पुस्तक में खरोष्ठी के प्रथम लिपिपत्र क्रमांक 65 में 'ण्' और 'न्' के लिए अलग–अलग लिप्यक्षरों का निर्देश किया है। मात्र यही नहीं उस लिपिपत्र में उन्होंने 'ण्' की दो आकृतियों का एवं 'न्' की चार आकृतियों का उल्लेख किया है–

ण= +

न =+

इस आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि खरोष्ठी लिपि में भी ई.पू. तीसरी शती में 'न्' और 'ण्' के लिए अलग–अलग आकृतियाँ रही हैं। पुनः, जब कोई किसी दूसरी भाषा के शब्दरूप किसी ऐसी लिपि में लिखे जाते हैं, जिसमें उस भाषा में प्रयुक्त कुछ स्वर या व्यञ्जन नहीं होते हैं, तो उन्हें स्पष्ट करने के लिए उसकी निकटवर्ती ध्वनि वाले स्वर एवं व्यञ्जन की आकृति में कुछ परिवर्तन करके उन्हें स्पष्ट किया जाता है, जैसे–रोमन लिपि में ङ्, ञ्, ण् का अभाव है, अतः उसमें इन्हें स्पष्ट करने के लिए कुछ विशिष्ट संकेत चिह्न जोड़े गये, यथा– यह स्थिति खरोष्ठी लिपि में रही है, जब उन्हें मागधी के अभिलेख खरोष्ठी लिपि में उत्कीर्ण करना हुए, उन्होंने न् ( ) की आकृति में आंशिक परिवर्तन कर 'ण्' ( ) की व्यवस्था की।

अतः, खरोष्ठी में भी जब अशोक के अभिलेख लिखे गये, तो न् और ण् के अन्तर का ध्यान रखा गया। अतः, पं. ओझाजी के नाम पर यह कहना कि प्राचीन लिपि में 'ण्'

और 'न्' के लिए एक लिप्यक्षर प्रयुक्त होता था, नितान्त भ्रामक है। पुनः, प्राचीन लिपियों में 'ण्' एवं 'न्' के लिए अलग-अलग आकृतियां मिलने का तात्पर्य यह भी नहीं है कि प्राचीन प्राकृतों में 'ण्' का प्राधान्य था। मागधी आदि प्राचीन प्राकृतों में प्राधान्य तो 'न्' का ही था, किन्तु विकल्प से कहीं-कहीं 'ण्' का प्रयोग होता था। प्राकृतों में मूर्द्धन्य 'ण्' का प्रयोग क्रमशः किस प्रकार बढ़ता गया, इसकी चर्चा भी हम शिलालेखों के आधार पर पूर्व में कर चुके हैं।

संक्षेप में, ब्राह्मीलिपि के अशोककालीन मागधी अभिलेखों में प्रारम्भ से ही जब 'न' और 'ण्' की स्वतंत्र आकृतियाँ निर्धारित हैं तो उनमें उत्कीर्ण 'न्' को 'ण्' नहीं पढ़ा जा सकता है, पुनः खरोष्ठी लिपि में भी मागधी और पैशाची प्राकृतों की प्रकृति के अनुसार 'न्' ही पढ़ना होगा।

भाई सुदीपजी ने प्राकृतविद्या, अप्रैल-जून 1997 के 'सबसे बड़ा अभिशापः अंगूठा छाप' नामक शीर्षक से प्रकाशित सम्पादकीय में लिखा है-

'इसी प्रकार प्राकृत के 'नो णः सर्वत्र' नियम का अपवाद इन शिलालेखों में प्रायशः 'न्' पाठ की उपलब्धि बताया गया है। स्व. ओझाजी ने इसका समाधान देते हुए लिखा है कि प्राचीन भारतीय लिपियों, विशेषतः ब्राह्मी लिपि में 'न्' एवं 'ण्' वर्णों के लिए एक ही आकृति (लिपि अक्षर) प्रयुक्त होती थी। जैसे कि अंग्रेजी में 'N' का प्रयोग 'न्' एवं 'ण्' दोनों के लिए होता है, तब उसे 'न' पढ़ा ही क्यों जाये? जब प्राकृत में 'ण्'कार के प्रयोग का ही विधान है और उसे उक्त नियमानुसार 'ण्' पढ़ा जा सकता है; तो एक कृत्रिम विवाद की क्या सदाशयता हो सकती है? किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने 'न्' पाठ रख दिया और उसे देखकर हमने कह दिया कि शिलालेखों की प्राकृत में 'न्' का प्रयोग प्राचीन है और 'ण्' का प्रयोग परवर्ती है। यह वस्तुतः एक अविचारित, शीघ्रतावश किया गया वचन-प्रयोग मात्र है।'

उनकी ये स्थापनाएँ कितनी निराधार और भ्रान्त हैं, यह उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है-

1. नो णः सर्वत्र के नियम का अपवाद इन शिलालेखों में प्रायशः 'न्' पाठ की उपलब्धि है, जो उपर्युक्त समस्त प्रमाणों से सिद्ध होता है। अतः, शिलालेखीय प्राकृत मागधी/अर्धमागधी के निकट है और उसमें शौरसेनी के दोनों विशिष्ट लक्षण दन्त्य 'न्' के स्थान पर मूर्द्धन्य 'ण्' और मध्यवर्ती 'त्' के स्थान पर 'द्' का अभाव है।

2. ब्राह्मी लिपि में प्रारम्भिक काल से 'न्' और 'ण्' के लिए अलग-अलग आकृतियाँ रही हैं। यह बात पं. गौरीशंकरजी ओझा के भारतीय प्राचीन लिपिमाला पुस्तक के लिपिपत्रों से ही सिद्ध हो जाती है, अतः उनके नाम से यह प्रचार करना कि प्राचीन ब्राह्मी लिपि में 'न्' एवं 'ण्' वर्णों के लिए एक ही आकृति (लिपि अक्षर) का प्रयोग होता था-भ्रामक और निराधार है।

   शीर्षस्थ विद्वानों के कथन को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत कर अपनी बात को सिद्ध करना बौद्धिक अप्रामाणिकता है और लगता है कि भाई सुदीपजी किसी आग्रहवश ऐसा करते जा रहे हैं। वे एक असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिए एक के बाद एक असत्यों का प्रतिपादन करते जा रहे हैं।

3. पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने अभिलेखों के जो भी पाठ निर्धारित किये हैं, वे सुविचारित और प्रामाणिक हैं, उन्हें अप्रामाणिक कहने के पूर्व उनका व्यापक तुलनात्मक एवं तटस्थ अध्ययन होना आवश्यक है। दूसरों को 'अंगूठा छाप' कहने के पहले हमें अपनी यथार्थ स्थिति को जान लेना चाहिए।

4. जो बात पं. ओझाजी ने खरोष्ठी लिपि के लिपिपत्र 67 के सम्बन्ध में कही हो, उसे उनकी कृति का अध्ययन किये बिना, बिना प्रमाण के ब्राह्मी के सम्बन्ध में कह देना सुदीपजी के अज्ञान, अप्रामाणिकता और पल्लवग्राही पाण्डित्य को ही प्रकट करता है। इस प्रकार के अपरिपक्व और अप्रामाणिक लेखन से 'अंगूठाछाप' कौन सिद्ध होगा, यह विचार कर लेना चाहिए।

5. प्राकृत में 'न्' का प्रयोग प्राचीन है और 'ण्' का प्रयोग परवर्ती है-इसकी सिद्धि तो अभिलेखों, विशेष रूप से शौरसेन प्रदेश एवं मथुरा के प्राचीन अभिलेखों में प्रारम्भ में 'ण्' की अनुपस्थिति और फिर उसके बाद कालक्रम में उसके प्रतिशत में हुई वृद्धि आदि से ही हो जाती है, जिसकी प्रामाणिक चर्चा पं. ओझाजी की पुस्तक के आधार पर हम कर चुके हैं, अतः प्राकृत में 'न्' का अथवा विकल्प से न् और ण् का प्रयोग प्राचीन है और 'नो णः सर्वत्र' का सिद्धान्त और उसको मान्य करने वाली प्राकृतें परवर्ती हैं, यह एक सुविचारित तथ्यपूर्ण निर्णय है।

6. रही बात विवाद उठाने की और सदाशयता की, तो सुदीपजी स्वयं ही बतायें कि शौरसेनी को प्राचीन बताने की धुन में 'अर्धमागधी आगम साहित्य पर नकल करके

कृत्रिम रूप से पाँचवी शती में शौरसेनी आगमों से निर्मित' जैसे मिथ्या आरोप किसने लगाये, विवाद किसने प्रारम्भ किया और सदाशयता का अभाव किसमें है। क्या जो व्यक्ति व्यंग्य में अपनी पत्रिका के सम्पादकीय में विद्वानों को अंगूठाछाप बताये और उनकी तुलना बिच्छू से करे, उसे सदाशयी माना जायेगा, स्वयं ही विचारणीय है।

वस्तुतः, ब्राह्मी लिपि में 'न्' और 'ण्' के लिए एक ही आकृति होती है– यह कहकर भाई सुदीपजी ने शौरसेनी की प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए पं. ओझाजी के नाम पर एक छक्का मारने का प्रयास किया, उन्हें क्या पता था कि 'कैच' हो जायेगा और 'आउट' होना पड़ेगा।

***

9 ओड्मागधी प्राकृत : एक नया शगुफा

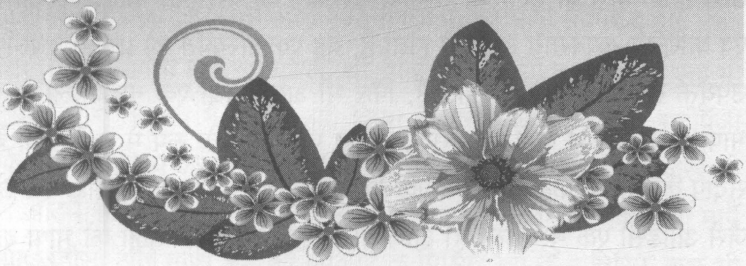

जब अभिलेखीय प्राकृत को शौरसेनी प्राकृत सिद्ध करने का प्रयत्न सफल नहीं हुआ, तो डॉ.सुदीपजी ने अभिलेखीय प्राकृत को ओड्मागधी प्राकृत बताने का एक नया शगूफा छोड़ा है। इस सम्बन्ध में उन्होंने प्राकृत विद्या, अप्रैल-जून 1998 में 'ओड्मागधी प्राकृतः एक परिचयात्मक अनुशीलन' नामक लेख लिखा। आश्चर्य यह है कि प्राकृत भाषा के ढाई हजार वर्ष के सुदीर्घ इतिहास में आज तक एक भी विद्वान् ऐसा नहीं हुआ, जिसने ओड्मागधी प्राकृत का कहीं संकेत भी किया हो। विभिन्न प्राकृतों के विशिष्ट लक्षणों का निर्देश करने के लिए अनेक प्राकृत व्याकरण लिखे गये, किन्तु किसी ने भी ओड्मागधी प्राकृत का कहीं कोई नामोल्लेख भी नहीं किया। यह डॉ. सुदीपजी की अनोखी सूझ है कि उन्होंने एक ऐसी प्राकृत का निर्देश किया, जिसका बड़े-बड़े प्राकृत भाषाविदों, इतिहासकारों और वैयाकरणों को भी अता-पता नहीं था। निश्चित ही ऐसी अद्भुत खोज के लिए वे विद्वत् वर्ग की बधाई के पात्र होते, किन्तु इसके लिए हमें यह तो निश्चित करना होगा कि क्या यह एक तथ्यपूर्ण खोज है या मात्र एक शगूफा।

डॉ.सुदीपजी ने ओड्मागधी प्राकृत की पुष्टि के लिए भरतमुनि के नाट्यशास्त्र को प्रमाण रूप से प्रस्तुत किया है। यह सत्य है कि भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में नाट्य की चार प्रकार की वृत्तियों-1. आवन्ती, 2. दाक्षिणत्या, 3. पञ्चाली और 4. ओड्मागधी का

निर्देश किया है, मात्र यही नहीं इन वृत्तियों (नाट्यशैलियों) की चर्चा करते हुए उन्होंने इनके विस्तार क्षेत्र की भी चर्चा की है और ओड्मागधी वृत्ति का क्षेत्र सम्पूर्ण पूर्वी भारत बताया है, जो वर्त्तमान में पश्चिम में प्रयाग से लेकर पूर्व में ब्रह्मदेश तक और उत्तर में नेपाल से लेकर दक्षिण में बंगाल और दक्षिण उड़ीसा के समुद्रतट तक बताया है, लेकिन यहाँ जिस ओड्मागधी वृत्ति की चर्चा की गई है, वह एक नाट्य विद्या या नाट्यशैली है। यह ठीक है कि वृत्ति या शैली का सम्बन्ध उस क्षेत्र की वेशभूषा, बोलचाल, आचार-पद्धति एवं वाणिज्य-व्यवसाय आदि से होता है, वह एक संस्कृति को प्रस्तुत करती है, जिसमें उपर्युक्त तथ्य भी सन्निहित होते हैं, फिर भी ओड्मागधी एक नाट्यशैली है, न कि एक भाषा। भरतमुनि ने कहीं भी उसका उल्लेख एक भाषा के रूप में नहीं किया है। यह डॉ. सुदीप की भ्रामक कल्पना है कि एक नाट्यशैली को वे एक भाषा सिद्ध कर रहे हैं। आज जैसे ओडिसी एक नृत्यशैली है। आज यदि कोई 'ओडिसी' शैली को भाषा कहे, तो वह उसके अज्ञान का ही सूचक होगा। उसी प्रकार ओड्मागधी, जो एक नाट्यशैली रही है, उसको एक भाषा कहना एक दुस्साहस ही होगा, जो डॉ.सुदीपजी ही कर सकते हैं। यदि ओड्मागधी नामक कोई भाषा होती, तो दो हजार वर्ष की इस अवधि में संस्कृत एवं प्राकृत का कोई न कोई विद्वान् तो उसका भाषा के रूप में उल्लेख करता अथवा संस्कृत-प्राकृत भाषा के किसी व्याकरण में उसके लक्षणों की कोई चर्चा अवश्य हुई होगी। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में जहाँ भी ओड्मागधी का उल्लेख किया है, उसे एक नृत्यशैली के रूप में ही प्रस्तुत किया है, कहीं भी उसका भाषा के रूप में उल्लेख नहीं है। यह बात भिन्न है कि नृत्यशैली में भी वेशभूषा, भाषा आदि सांस्कृतिक तत्त्व अन्तर्निहित होते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ओड्मागधी नामक कोई भाषा थी। वस्तुतः ओड्मागधी एक वृत्ति, प्रवृत्ति या शैली ही थी। भरतमुनि और उनके टीकाकारों और व्याख्याकारों ने सदैव ही उसका नाट्यशैली के रूप में उल्लेख किया है, भारतीय वाङ्मय में ऐसा एक भी सन्दर्भ नहीं है, जो ओड्मागधी को एक भाषा के रूप में उल्लेखित करता हो।

वस्तुतः, ओड्मागधी है क्या? वह 'ओड्' और 'मागधी' इन दो शब्दों से बना एक संयुक्त शब्दरूप है, इसमें ओड् वर्त्तमान उड़ीसा प्रदेश की और मागधी मगध प्रदेश की नाट्यशैली का सूचक है। उड़ीसा और मगध प्रदेश की मिश्रित नाट्यशैली को ही

ओड्मागधी कहा गया है, जो सम्पूर्ण पूर्वीय भारत में प्रचलित थी। वह एक मिश्रित नाट्यशैली मात्र है, किन्तु डॉ. सुदीपजी उसे भाषा मान बैठे हैं। वे प्राकृत-विद्या, अप्रैल-जून 1998, पृ.13-14 पर लिखते हैं-'ओड्मागधी प्राकृत भाषा का ईसा पूर्व के वृहत्तर भारतवर्ष के पूर्वी क्षेत्र में पूर्णतः वर्चस्व था, यह न केवल इन क्षेत्रों में बोली जाती थी, अपितु साहित्य लेखन आदि भी इसी में होता था, इसीलिए सम्राट खारवेल का कलिंग अभिलेखन (हाथी-गुफा अभिलेख) भी इसी ओड्मागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध है।'

प्रथमतः तो ओड्मागधी मात्र नाट्यशैली थी, भाषा नहीं, क्योंकि आज तक एक भी विद्वान् ने इसका भाषा के रूप में उल्लेख नहीं किया है। पुनः, जैसा कि भाई सुदीपजी लिखते हैं कि उसमें साहित्य लेखन होता था, तो वे ऐसे एक भी ग्रन्थ का नामोल्लेख भी करें, जो इस ओड्मागधी में लिखा गया हो। पुनः, यदि बकौल उनके इसे एक भाषा मान भी लें, तो यह उड़ीसा और मगध क्षेत्र की बोलियों के मिश्रित रूप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, क्योंकि सभी विद्वानों ने एक मत से यह माना है कि अर्धमागधी मागधी और उसके समीपवर्ती प्रादेशिक बोलियों के शब्दरूपों से बनी एक मिश्रित भाषा है। उड़ीसा मगध का समीपवर्ती प्रदेश है, अतः उसके शब्द स्वाभाविक रूप से उसमें सम्मिलित हैं, अतः ओड्मागधी अर्धमागधी या उसकी एक विशेष विधा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। वस्तुतः, डॉ. सुदीपजी को अर्धमागधी के नाम से ही घृणा है, उन्हें इस नाम को स्वीकार करने पर अपने साम्प्रदायिक अभिनिवेश पर चोट पहुँचती नजर आती है। उनका इसके पीछे अर्धमागधी आगमों और उनके मानने वालों के प्रति वैमनस्य प्रदर्शित करने के अलावा क्या उद्देश्य है, मैं नहीं जानता?

उन्होंने हाथीगुफा अभिलेख को प्रादर्श मानकर उससे ओड्मागधी के कुछ लक्षण भी निर्धारित किये हैं। आएं, देखें उनमें कितनी सत्यता है और वे अर्धमागधी के लक्षणों से किस अर्थ में भिन्न हैं? वे लिखते हैं कि 'इस अभिलेख में सर्वत्र पद के प्रारम्भ में 'ण्' वर्ण का प्रयाग हुआ है, तथा अन्त में 'न्' वर्ण आया है, जबकि अर्धमागधी में पद के प्रारम्भ में 'न्' वर्ण आता है और अन्त में 'ण्' वर्ण आता है।' वस्तुतः, यह प्राचीन शौरसेनी, जो कि दिगम्बर जैनागमों की मूलभाषा से प्रभावित मागधी का विशिष्ट रूप है, इसमें दन्त्य 'स्'कार की प्रकृति, 'क्' वर्ण का 'ग्' वर्ण आदेश, 'थ्'के स्थान पर 'ध्' का प्रयोग एवं अकारान्त पु. प्रथमा एकवचनान्त रूपों में ओकारान्त की प्रवृत्ति विशुद्ध शौरसेनी का ही

अमिट एवं मौलिक प्रभाव है।

– प्राकृत विद्या, अप्रैल–जून, 1998, पृ.14.

प्रथमतः, उनका यह कहना सर्वथा असत्य और अप्रामाणिक है कि इस अभिलेख में पद के प्रारम्भ में 'ण्' वर्ण का प्रयोग हुआ है तथा पद के अन्त में 'न्' वर्ण आया है। विद्वत्जनों के तात्कालिक सन्दर्भ के लिए हम नीचे हाथीगुफा खारवेल का अभिलेख उद्धृत कर रहे हैं–

PLanguage : Prakrit resembling Pali
Script : Brahmi of about the end of the 1st. century B.C.
Text

1. नमो अरहंतानं (।) नमो सव–सिधानं (।।) ऐरेण महाराजेन महामेघवाहनेन चेति–राज–व (।।) स–वधनेन पसथ–सुभ–लखनेन चतुरंतलुठ (ण)–गुण–उपितेन कलिंगाधिपतिना सिरि–खारवेलेन
2. (प) दरस–वसानि सीरि– (कडार)– सरीर–वता कीडिता कुमार–कीडिका (।।) ततो लेख–रूप गणना–ववहार–विधि–विसारदेव सव–विजावदातेन नव–वसानि योवरज (प) सासितं (।।) संपुंण– चतुवीसिति–वसो तदानि वधमानसेसयो वेनाभिविजयो ततिये
3. कलिंग राज वसे पुरिस–युगे महाराजाभिसेचनं पापुनाति(।।) अभिसितमतो च पघमे वसे वात–विहत गोपुर–पाकार–निवेसनं पटिसंखारयति कलिंगनगरिखिबी (र) (।) सितल–तडाग–पाडियो च बंधापयति सवूयान–प (टि) संथपनं च
4. कारयति पनति (सि) साहि सत–सहसेहि पकतियो च रंजयति (।।) दुतिये च वसे अचितयिता सातकंनि पछिम–दिसं हय–गज–नर–रघ–बहुलं दंडं पठापयति (1) कन्हबेंणा–गताय च सेनाय वितासिति असिकनरं (।।) ततिये पुन वसे
5. गंधव–वेद–बुधो दपउसव–समाज–कारापनाहि च कीडापयति नगरिं (।।) तथा चवुथे वसे विजाधराधिवासं अहतपुवं कलिंग पुव राज (निवेसित)... वितध म(कुट)ट.... च निखित–छत
6. भिंगारे (हि)त रतन सपतेये सव रठिक भोजके पादे वंदापयति (।।) पंचमे च दानी वसे नंद–राज–ति–वस–सत–ओ(घा) टितं तनसुलिय–वाटा पणाडिं नगरं पवेस

(य) तिंसो... (।।) (अ) भिसितो च (छटे वसे) राजसेयं संदंसयंतो सवकर-वण

7. अनुगह अनेकानि सत सहसानि विसजति पोर जानपदं (।।) सतमं च वसं (पसा) सतो वजिरधर... स मतुक पद(कु) म..... (।) .... अठमे च वसे महता सेन (ा) गोरधगिरिं

8. घातापयिता राजगह उपपीडपयति। (।) एतिन (ा) च कंमपदान स (ा) नादेन... सेन वाहने विपमुचितुं मधुरं अपयातो यवनरां(ज)(डिमित)... यछति.... पलव.....

9. कपड़ूखे हय गज रथ सह यति सव-घरावास.... सवगहणं च कारयितुं ब्रह्मणानं ज (य) परिहारं ददाति (।) अरहत ..... (नवमे च वसे)

10. .... महाविजय पासादं कारयति अठतिसाय सत सहसेहि (।।) दसमे च वसे दंड संधी सा (ममयो) ( ) भरधवस-पठा ( ) नं मह(ी) जयनं ()... कारापयति (।।) (एकादसमे च वसे) ... प(ा) यातानं च म(नि) रतनानि उललभते ()

11. .... पुवं राज-निवेसितं पीथुंडं गदभ-नंगलेन कासयति (।) जन (प) दभावनच तेरस वस सत कतं भि ( ) दति त्रमिर दह ( ) संघात (।) वारसमे च वसे ... (सह) सेहि वितासयति उतरापध राजानो....

12. म(ा) गंधानं च विपुलं भयंजनेतो हथसं गंगाय पाययति (।) म(ाग) ध () च राजानं वहसतिमितं पादे वंदापयति (।) नंदराज-नीतं च का (लि) ग जिनं संनिवस... अंग-मगध वसुं च नयति (।।)...

13. ... (क) तु ( ) जठर (लिखिल-(गोपु) राणि सिहराणि निवेसयति सत विसिकनं(प) रिहारेहि (।) अभुतमछरियं च हथी-निवा(स) परिहर.... हय-हथि रतन (मानिक) पंडराजा.... (मु) तमनि रतनानि आहरापयति इध सत (सहसानि)

14. ... सिनो वसीकरोति (।) तेरसमे च वसे सुपवत विजय चके कुमारीपवते अरहते (हि) पखिन सं (ि स) तेहि कायनिसीदियाय यापूजावकेहि राजभितिन चिन वतानि वास(ा) (सि) तानि पूजानुरत उवा (सगा-खा) रवेल सिरिना जीवदेह (सयि) का परिखाता (।।)

15. .... सकत-समण सुविहितानं च सव दिसानं अ(नि) नं ( ) तपसि इ (सि) न

संघियनं अरहतनिसीदिया समीपे पाभारे बराकार समुथापिताहि अनेकयोजना हिताहि .... सिलाहि....

16. .. चतरे च वेडुरिय गभे थंमे पतिठापयति पानतरीय सत सहसेहि (।) ममु(खि)य कल वोछिनं च चोय(ठि) अंग संतिक ( ) तुरियं उपादयति (।) खेम राजा स वढ़ राजा स भिखु राजा धम राजा पसं (तो) सुनं (तो) अनुभव (तो) कलानानि

17. .... गुण विसेस कुसलो सव पासंड पूजको सव दे (वाय) तन सकार कारको अपतिहत चक वाहनवलो चकधरो गुतचको पवतचको राजसिवसू कुल विनिश्रितो महाविजयो राजा खारवेलसिरि (।।)

इस सम्पूर्ण अभिलेख में कहीं भी पद के प्रारम्भ में 'ण्' और अन्त में 'न्' नहीं है। इसके विपरीत, पद के प्रारम्भ में 'न्' एवं अन्त में 'न्' या 'ण्' वर्ण के अनेक उदाहरण हैं, जिसे वे अर्धमागधी की विशेषता स्वीकार करते हैं, यथा–

नमो अरहंतानं, नमो सवसिधानं, महाराजेन लखनेन कलिगाधिपतिना, खारवेलेन, नववसाति, नगर, नत, वधमान, नंदराज, यवन, सातकंनि, निवेसितं, नयति, रतनानिनिसीदिया, चिनवतानि, वास (स) तानि, खारवेल सिरिना सुविहतांब दिसानं आदि। अब अंत में 'ण्' के कुछ प्रयोग देखिए– ऐरण, संपुणं, गहणं (गोपुराणि, सिहराणि) समण, गुण कन्हवेणा आदि। कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जहां मध्यवर्ती 'ण्' और अन्त में 'न्' है। जैसे ब्रह्माणान, लखणेन आदि। इन सब उदाहरणों से तो डॉ. सुदीपजी के अनुसार भी यह अर्धमागधी या अर्धमागधी प्रभावित ही सिद्ध होती है। पुनः इसमें दन्त्य 'स्' कार, 'क्' वर्ण का 'ग्' आदेश तथा 'थ्' के स्थान पर 'ध्' का प्रयोग रूप जो विशेषताएँ हैं वह तो अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत में भी मिलती हैं।

शौरसेनी के दो विशिष्ट लक्षण– 'न्' का सर्वत्र 'ण्' और मध्यवर्ती असंयुक्त 'त्' का 'द्' तो इसमें कहीं पाये ही नहीं जाते हैं। इसी प्रकार, इसमें वर्धमान का वधमान रूप ही मिलता है न कि शौरसेनी का वड्ढमाण। इस प्रकार, इसके शौरसेनी से प्रभावित होने का कोई भी ठोस प्रमाण नहीं है, इसके विपरीत यह मागधी या अर्धमागधी से प्रभावित है, इसके अनेकों अन्तःसाक्ष्य स्वयं इसी अभिलेख में हैं। पुनः, कलिंग मगध के निकट है शूरसेन से तो बहुत दूर है, अतः वहाँ की भाषा मागधी या अर्धमागधी से तो प्रभावित हो सकती है, किन्तु शौरसेनी से नहीं। अतः, कलिंग के अभिलेख की भाषा को ओड्मागधी

कहना और उसे दिगम्बर आगमों की तथाकथित विशुद्ध शौरसेनी से प्रभावित कहना पूर्णतः निराधार है।

खारवेल के अभिलेखों की भाषा को विद्वानों ने आर्षप्राकृत (अर्धमागधी का प्राचीन रूप) माना है और उसे पाली के समरूप बताया है। जैन आगमों में आचाराङ्ग (प्रथम श्रुतस्कन्ध), इसिभासियाइं आदि की और बौद्धपिटक में सुत्तनिपात एवं धम्मपद की भाषा से इसकी पर्याप्त समरूपता है। दोनों की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके कोई भी इसका परीक्षण कर सकता है। उसमें अर्धमागधी के अधिकांश लक्षण पाये जाते हैं, जबकि शौरसेनी के विशिष्ट लक्षणों, जैसे–सर्वत्र 'ण्' का प्रयोग अथवा मध्यवर्ती 'त्' का 'द्', का उसमें पूर्णतः अभाव है। सत्य तो यह है कि जब अभिलेखीय प्राकृतों को शौरसेनी सिद्ध करना सम्भव नहीं हुआ, तो उन्होंने ओड्मागधी के नाम से नया शगूफा छोड़ा। उनकी यह तथाकथित ओड्मागधी अर्धमागधी से किस प्रकार भिन्न है और उसके ऐसे कौनसे विशिष्ट लक्षण हैं, जो प्राचीन अर्धमागधी (आर्ष) या पाली से उसे भिन्न करते हैं, किस प्राकृत व्याकरण में किस व्याकरणकार ने उसके इन लक्षणों का निर्देश किया अथवा इसके नाम का उल्लेख किया है और कौनसे ऐसे ग्रन्थ हैं, जो ओड्मागधी में रचे गये हैं? भाई सुदीपजी इन प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर प्रस्तुत करें। उनके अनुसार इस ओड्मागधी भाषा का निर्देश भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में है, तो फिर प्राचीनकाल से आज तक अनेकों प्राकृत–संस्कृत नाटक रचे गये, क्यों नहीं किसी एक नाटक में भी इस ओड्मागधी का निर्देश हुआ है, जबकि अन्य प्राकृतों के निर्देशन हैं। यह सब सप्रमाण स्पष्ट करें, अन्यथा आधारहीन शगूफे छोड़ना बन्द करें। इन शगूफों से वे चाहे साम्प्रदायिक अभिनिवेश से युक्त श्रद्धालुजनों को प्रसन्न कर लें, किन्तु विद्वत्वर्ग इन सबसे दिग्भ्रमित होने वाला नहीं है। डॉ. सुदीपजी का यह वाक्छल भी अधिक चलने वाला नहीं है। दिगम्बर परम्परा के प्राचीन आचार्यगण और वर्त्तमान युग के अनेक वरिष्ठ विद्वान्, यथा–पं.नाथूरामजी प्रेमी. प्रो.ए.एन.उपाध्ये, पं. हीरालालजी, डॉ. हीरालालजी, पं. फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, पं. कैलाशचन्द्रजी आदि किसी ने भी ओड्मागधी प्राकृत का कहीं कोई निर्देश क्यों नहीं किया? संभवतः, भाई सुदीपजी इन सबसे बड़े विद्वान् हैं, क्योंकि वे स्वयं ही लिखते हैं– 'आज के अधिकांश विद्वान् ओड्मागधी प्राकृत का नाम भी नहीं जानते हैं' (प्राकृत विद्या, अप्रैल–जून 1998, पृ.14)। चूंकि ये सभी आचार्यगण और विद्वान् ओड्मागधी प्राकृत

का नाम भी नहीं जानते थे, क्योंकि जानते होते, तो अवश्य निर्देश करते और भाई सुदीपजी उसके नाम और लक्षण-दोनों जानते हैं, अतः ये उनसे बड़े पण्डित और विद्वान् हैं। उनके और उनकी आधारहीन स्थापनाओं के संबंध में हम क्या कहें? पाठक स्वयं विचार कर लें।

वस्तुतः, आजकल डॉ. सुदीपजी का मात्र एकसूत्रीय कार्यक्रम है, वह यह कि अर्धमागधी आगम साहित्य को कृत्रिम (बनावटी) रूप से पांचवीं शती में निर्मित कहकर उसके प्रति आस्थाशील श्वेताम्बर समाज की भावनाओं को आहत करना, इसलिए वे नित्य नये शगूफे छोड़ते रहते हैं। उनके मन में अर्धमागधी और उसके साहित्य के प्रति कितना विद्वेष है, यह उनकी शब्दावली से ही स्पष्ट है। वे प्राकृत विद्या, अप्रैल-जून 1998 में पृ.14-15 पर लिखते हैं -

'कई आधुनिक विद्वान् तो इसे (हाथीगुम्फा शिलालेख को) अर्धमागधी में निबद्ध भी कहकर आत्मतुष्टि का अनुभव कर लेते हैं, वे यह तथ्य नहीं जानते हैं कि आज की कथित अर्धमागधी प्राकृत तो कभी लोकजीवन में प्रचलित ही नहीं रही है, इसलिए लोक साहित्य और नाट्य साहित्य में कहीं भी इसका प्रयोग तक नहीं मिलता है। ईसापूर्व काल में इस भाषा का अस्तित्व नहीं था। यह तो पाँचवीं शताब्दी में वलभी वाचना के समय कृत्रिम रूप से निर्मित की गई भाषा है। यह अत्यन्त खेद की बात है कि आज के अधिकांश विद्वान ओड्मागधी प्राकृत का नाम भी नहीं जानते हैं। जिसे वे शौरसेनी से प्रभावित मागधी यानी अर्धमागधी कहते हैं, वस्तुतः वह यही ओड्मागधी है, जो ईसा पूर्व काल में प्रचलित थी। पाँचवीं शताब्दी ईस्वी में यह अस्तित्व में आई एवं कुछ लोगों ने मिल-बैठकर कृत्रिम रूप से बनायी गयी तथाकथित अर्धमागधी या आर्षभाषा नहीं थी। इसका नाम छिपाकर कृत्रिम अर्धमागधी भाषा पर ओड्मागधी प्राकृत की विशेषताओं का लेबिल चिपकाकर धुआंधार प्रचार करना एक झूठ को सौ बार बोलो, तो वह सच हो जायेगा। इस भ्रामक मानसिकता के कारण हुआ है। वस्तुतः, यह तथाकथित कृत्रिम अर्धमागधी प्राकृत न तो लोकजीवन में थी, न लोकसाहित्य में थी, न किसी अभिलेख आदि में रही है और न ही व्याकरण एवं भाषाशास्त्र ने कभी इसे मान्यता दी है। कोरी नारेबाजी से कोई भाषा न तो बनती है और न चलती है। भरतमुनि कथित ओड्मागधी को अर्धमागधी बताकर बहुत दिनों तक चला लिया तथा इसे प्रमाण बताकर अर्धमागधी को ईसा पूर्व तक ले जाने का प्रयत्न भी किया।

यही नहीं, पद्यों में अर्धमागधी एवं ओड्मागधी- इन पदों में मात्रा एवं वर्णों की दृष्टि से कोई अन्तर न होने से यह छल बहुत समय तक चल भी गया, क्योंकि छन्दोभंग न होने से किसी ने एतराज नहीं किया।' प्राकृत विद्या, अप्रैल-जून 1998, पृ.14-15.

डॉ.सुदीपजी के प्रस्तुत कथन के दो ही उद्देश्य हैं- प्रथम तो अपने पूर्ववर्ती सभी श्वेताम्बर, दिगम्बर विद्वानों और अन्य भाषाविदों को अल्पज्ञ एवं अज्ञानी सिद्ध करना है, क्योंकि वे सभी इनकी स्वैर कल्पना, प्रसूत ओड्मागधी प्राकृत के नाम एवं लक्षणों से पूर्णतः अनभिज्ञ रहे हैं। दो हजार से अधिक वर्षों के प्राकृत भाषा के इतिहास में कोई एक भी विद्वान् ऐसा नहीं हुआ है, जिसने इस ओड्मागधी प्राकृत और इसके लक्षणों की कोई चर्चा की हो, और तो और, स्वयं भरतमुनि ने भी कहीं भी ओड्मागधी को प्राकृत भाषा नहीं कहा है, सर्वत्र उसे वृत्ति या प्रवृत्ति ही कहा है। सुदीपजी सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र में एक भी ऐसा स्थल दिखा दें, जहाँ ओड्मागधी प्राकृत का नाम आया हो और उसके लक्षणों की कोई चर्चा की गई हो। आज तक एक भी भाषा-वैज्ञानिक एवं व्याकरणकार भी ऐसा नहीं हुआ, जिसने इस ओड्मागधी की कहीं कोई चर्चा की हो, अतः सुदीपजी की दृष्टि में वे सभी मूर्ख थे।

दूसरे, आज तक जो विद्वान् अभिलेखीय प्राकृत को पाली एवं अर्धमागधी के समरूप मानते रहे, अथवा जो ईसा पूर्व में अर्धमागधी का अस्तित्व मानते रहे और उसका प्रचार करते रहे, वे सभी सुदीपजी की दृष्टि में मिथ्याभाषी, छलछद्म करने वाले और भ्रामक मानसिकता के शिकार रहे हैं। आज भी देश-विदेश में ऐसे सैकड़ों विद्वान् हैं, जिन्होंने अर्धमागधी आगमों और उनकी भाषा का अध्ययन करने में पूरा जीवन खपा दिया है। बकौल सुदीपजी के तो ओड्मागधी को ही छल से अर्धमागधी बना दिया गया है, किन्तु ये देश-विदेश के विद्वान् क्या इतने मूर्ख रहे हैं कि इस छल को समझ भी नहीं सके। अर्धमागधी और उसके लक्षणों को ओड्मागधी बताने का छल कौन कर रहा है, यह तो स्वयं सुदीपजी विचार करें? यदि ओड्मागधी के वे ही लक्षण हैं, जो आर्षप्राकृत या अर्धमागधी के हैं, तो फिर उसे अर्धमागधी न कहकर ओड्मागधी कहने का आग्रह क्यों है? क्या केवल इसलिए कि अर्धमागधी श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों की भाषा है। यह तो ऐसा ही हुआ कि हम तो नानी को कानी ही कहेंगे। पुनः, अर्धमागधी को कृत्रिम रूप से पाँचवीं-शती में निर्मित कहने का, उसे कुछ लोगों द्वारा मिल-बैठकर बनाने का सफेद

झूठ सौ-सौ बार बोलने का प्रयास कौन कर रहा है? सम्भवतः, वे स्वयं ही इस झूठ को सौ से अधिक बार तो प्राकृतविद्या में ही लिख चुके हैं- उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि सौ बार क्या, हजार बार बोलने पर भी झूठ, झूठ ही रहता है, सच नहीं हो जाता। वे चाहे अर्धमागधी भाषा और उसके आगम साहित्य को कृत्रिम रूप से पाँचवीं शती में निर्मित कहते रहें, उसकी जिस प्राचीनता को देश-विदेश में सैकड़ों विद्वान् मान्य कर चुके हैं, उस पर कोई आँच आने वाली नहीं है। वे अर्धमागधी को लोकजीवन और लोकसाहित्य में अप्रचलित होने का प्रतिपादन कर रहे हैं, किन्तु वे जरा यह तो बतायें कि उनकी स्वैर कल्पना प्रसूत तथाकथित ओड्मागधी प्राकृत में कितना साहित्य है, किस नाटक में इसका प्रयोग हुआ है, कौन से व्याकरणकार ने इसके नाम और लक्षणों का उल्लेख किया है? अर्धमागधी का आगम साहित्य तो इतना विपुल है कि उसमें युगीन लोकजीवन की सम्पूर्ण झांकी मिल जाती है। ओड्मागधी का भाषा के रूप में कहीं भी कोई उल्लेख नहीं है उसे भाषा बना देना और जिस अर्धमागधी के भाषा के रूप में अनेकशः उल्लेख हों और जिसका विपुल प्राचीन साहित्य हो, उसे नकार देना मिथ्या दुष्प्रचार के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस सबके पीछे श्वेताम्बर साहित्य और समाज की अवमानना का सुनियोजित षड्यंत्र है, अतः उन्हें आत्मरक्षा के लिए सजग होने की आवश्यकता है।

***

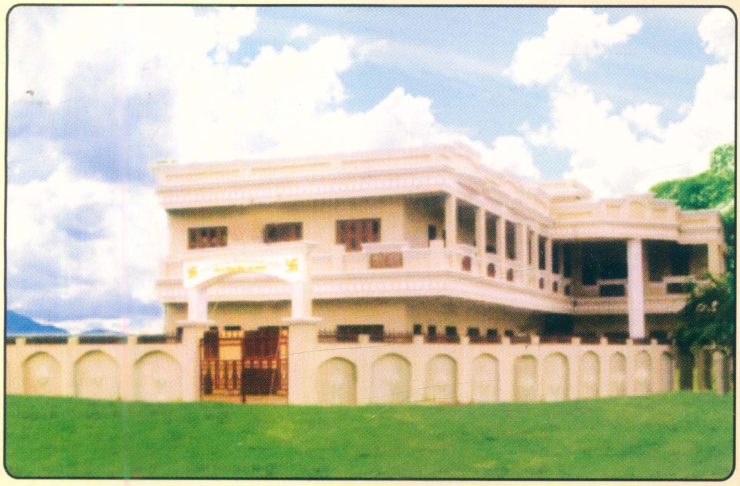

प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय

डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्या पीठ, शाजापुर आगरा–मुम्बई मार्ग पर स्थित इस संस्थान का मुख्य उदेश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ–साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दु धर्म आदि के लगभग 12,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी है। यहाँ 40 पत्र पत्रिकाएँ भी नियमित आती है

इस परिसर में साधु–साध्वियों, शोधार्थियों और मुमुक्षुजनों के लिए अध्ययन–अध्यापन के साथ–साथ निवास, भोजन आदि की भी उत्तम व्यवस्था है।

शोधकार्य के मार्गदर्शन एवं शिक्षण हेतु डॉ. सागरमलजी जैन का सतत् सानिध्य प्राप्त है।

इसे विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा शोध संस्थान के रुप में मान्यता प्रदान की गई है।

डॉ. सागरमल जैन

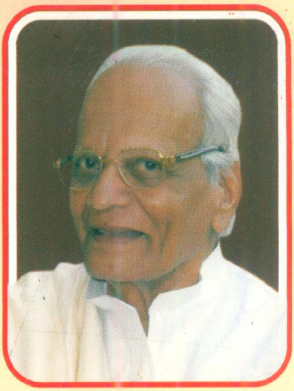

जन्म	:	दि. 22.02.1932
जन्म स्थान	:	शाजापुर (म.प्र.)
शिक्षा	:	साहित्यरत्न : 1954
		एम.ए. (दर्शन शास्त्र) : 1963
		पी–एच.डी. : 1969

अकादमिक उपलब्धियाँ :

प्रवक्ता (दर्शनशास्त्र) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा	: 1964–67
सहायक प्राध्यापक म.प्र. शास. शिक्षा सेवा	: 1968–85
प्राध्यापक (प्रोफेसर) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा	: 1985–89
निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	: 1979–1987 एवं 1989–1997
लेखन	: 49 पुस्तकें
सम्पादन	: 160 पुस्तकें
प्रधान सम्पादक	: जैन विद्या विश्वकोष (पार्श्वनाथ विद्यापीठ की महत्वाकांक्षी परियोजना)

पुरस्कार :

प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार	: 1986 एवं 1998
स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार	: 1987
डिप्टीमल पुरस्कार	: 1992
आचार्य हस्तीमल स्मृति सम्मान	: 1994
विद्यावारधि सम्मान	: 2003
प्रेसीडेन्सीयल अवार्ड ऑफ जैना यू.एस.ए	: 2007
वागार्थ सम्मान (म.प्र. शासन)	: 2007
गौतम गणधर सम्मान (प्राकृत भारती)	: 2008
आर्चाय तुलसी प्राकृत सम्मान	: 2009
विद्याचन्द्रसूरी सम्मान	: 2011
समता मनीषी सम्मान	: 2012
सदस्य : अकादमिक संस्थाएँ	: पूर्व सदस्य – विद्वत परिषद, भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल सदस्य – जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ
	: पूर्व सदस्य – मानद निदेशक, आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर।
सम्प्रति	: संस्थापक – प्रबंध न्यासी एवं निदेशक प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र) पूर्वसचिवःपार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
विदेश भ्रमण	: यू.एस.ए. , शिकागों, राले, ह्यूटन, न्यूजर्सी, उत्तरीकरोलीना, वाशिंगटन, सेनफ्रांसिस्को, लॉस एंजिल्स, फ्िनीक्स, सेंट लूईस, पिट्सबर्ग, टोरण्टों, (कनाड़ा) न्यूयार्क, लन्दन (यू.के.) और काटमाडूं (नेपाल)